बापू के तीन हत्यारे !

बापू के नाम पर, राष्ट्र पिता के नाम पर उनकी सर्व प्रियता का अनधिकार लाभ उठाने की कुचेष्टा, गांधी-वाद पर तो नहीं, पर कम से कम गांधी के ऊपर तो प्रहार है ही ! उनके नाम की ओट में जनता के शोषण की दुष्प्रवृति न खादी के फूलों के बहाने दब सकती है, न सूत की मालाएं पहिनाने से और न रक्त का चंदन लगाने से !

—— संभव है राज घाट की समाधि को देखकर, मरे हुए बापू की याद करके, आँखों में आँसू तक जायँ, तब भारत वर्ष के हर पुस्तकालय की अलमारियों में काच के चमकते पर्दों के भीतर, इन पुस्तकों के रूप में, गाँधी जी के ये अगणित राजघाट क्या एक दीर्घ वेदना भरी उच्छ्वास को भी बाहर न खींच ला सकेंगे ?

बापू के तीन हत्यारे

प्रकाशक—
ऊमरदान देथा
कुबेर प्रकाशन
सुमेर बिल्डिंग
रातानाडा रोड
जोधपुर

पहिली वार
अप्रेल १९५२

मूल्य—पाँच रुपया
(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक
कॅप्टिन जोधसिंह उज्वल
राजस्थान टाइम्स लिमिटेड
अजमेर

वापू के तीन हत्यारे !

क्रम :

★

बापू पर उठाई गई पिस्तोल की आवाज में, इन कवियों के कानों को रुपयों की मधुर झनकार सुनाई दी ! और उनके शरीर से निकले हुए खून में, एक नई टकसाल को ही इन्होंने खोज निकाला ! बापू क्या मर गये—इन लेखकों को एक वरदान सौंप गये ? वरदान—पैसों का, वरदान—रुपयों का और वरदान— सोने का !

★

❖ ❖

इस तरह की रचनाओं के वाद भी वच्चन और पंत को कवि कहलाने के अधिकार से वंचित न करके, जो उन्हें एक अच्छा कवि मानते आ रहे हैं, और भविष्य में मानते ही जायेंगे; हिन्दी के उन्हीं पाठकों को केवल उसी सहृदय और 'उदार नासमझी' के हाथों, मैं जान कर ही कुछ मतलव से अपनी यह किताव सौंप रहा हूँ।

निज्जी

जलता हूँ प्रकाश करने को जलना मेरा ध्येय नहीं है !

इस किताव के शीर्षक को पढ़कर, लोगों के हृदय में यह आशंका उठे या न उठे, लेकिन मैं फिर भी अपनी ही ओर से शंका पैदा करके, अपने आप उसका उत्तर देने की चेष्टा इसलिये कर रहा हूं कि इस तरह की अनोखी वात को लिखने या कहने में, एक प्रकार के आनन्द की सहज स्वाभाविक प्राप्ति के प्रलोभन से, मैं स्वयं को वंचित नहीं रखना चाहता ।

तो कहूं कि 'वापू के तीन हत्यारे" इस शीर्षक को पढ़कर आप में उसी क्षण एक आशंकित जिज्ञासा जागृत होगी कि इतने दिनों तक तो वापू का केवल एक ही हत्यारा सुना गया है---नाथूराम विनायक गोडसे ! फिर अचानक आज ये तीन हत्यारे कहां से पैदा हो गये ? और वे भी कोई ऐसे वैसे आदमी नहीं–हिन्दी के गण्यमान्य जाने-पहिचाने प्रसिद्ध कवि---पंत, वच्चन और नरेन्द्र शर्मा । और आश्चर्य की वात यह कि वास्तविक हत्यारे का नाम ही नहीं । तव शायद आप यह कह कर अपने मन को समझा लेंगे कि इस वापू शब्द का अर्थ कोई दूसरा ही है, तव मैं आपके भ्रम का प्रतिवाद करते हुए कहूंगा कि इस वापू शब्द का मतलव भी महात्मा गांधी से ही है–उसी महात्मा गांधी से–जिनका पूरा नाम मोहनदास करमचंद गांधी है–जो देवदास के पिता और कस्तूर वा के पति थे–और जिनकी मृत्यु नाथूराम के हाथों हुई थी !

लेकिन मेरी अपनी राय तो यह है कि वूढ़े वापू को अपना काम पूरा करने के पश्चात् एक दिन जाना ही था, दस साल वाद मरते या पहिले । भारत को आज़ादी दिलाने की प्रतिज्ञा को वे पूरा कर चुके थे । भले ही मैं व्यक्तिगत रूप से भारत की इस आज़ादी पर विश्वास करूं या न करूं–यह एक दूसरा प्रश्न है! भारत को आज़ादी न मिली–पर आज़ादी की भ्रांति तो अवश्य मिल ही गई है, इसमें कोई संदेह नहीं! पर अभी जव तक मैं आलोचना की इस पुस्तक को समाप्त न कर लूं, यह मानकर

चलूंगा कि भारत को आज़ादी मिल गई, और यह आज़ादी बापू ही ने दिलाई थी। और साथ में यह भी मानकर चलूंगा कि बापू युग-पुरुष थे—उनका व्यक्तित्व महान् था, अतुलनीय था !

इन सब बातों को वांछित मूल्य देते हुए मैं तो यह सोचता हूँ कि नाथूराम ने तो केवल बापू की शारीरिक देह पर ही तीन गोलियों का दाग़ लगाया था, और वह इस कारण हत्यारे के रूप में सर्वत्र बदनाम भी हो गया, पर बापू की देह के अन्यथा वह उन्हें कुछ भी अन्य नुकसान पहुँचाने में समर्थ नहीं भी हो सका था। इस हत्या से बापू की आयु तो अवश्य घटी पर उनकी महत्ता में कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई थी; दुनिया के वे और भी समीप आ रहे।

लेकिन उनकी मृत्यु के बाद जो व्यक्ति आज दिन तक उनकी हत्या पर हत्या करते चले आ रहे हैं, उनका अपराध गोडसे से कहीं लाख गुना अधिक बड़ा है ! उसने तो केवल बापू पर ही हाथ उठाया था, बापू के नाम पर असंख्य जनता का शोषण तो नहीं किया। न्याय के फंदे में भले ही वे न फंसें, पर मेरे विचारों की परिधि के घेरे में इस तरह के व्यक्ति ही सच्चे माने में बापू के हत्यारे हैं; जो उनके नाम की ओट लेकर जनता का शिकार खेला करते हैं।

सुभाष बाबू की मृत्यु के कई दिनों बाद 'समाधि' खेल देखा, और खेल देख चुकने के बाद तक मैं अपने आप ही को सुनाकर, सहस्र बार केवल इसी बात को दोहराता रहा कि आज नेताजी क़त्ल नहीं, हलाल किये जा रहे हैं—उनकी मृत्यु उस दिन नहीं, आज ही हुई है !

ज्योमैट्री के प्रयोगों की तरह हलकी काटते हुए कहूंगा कि सो इसी तरह बच्चन, पंत और नरेन्द्र शर्मा, इन तीनों कवियों के हाथ से लिखी हुई तीन किताबों* को पढ़ने के पश्चात् मैं यही निर्णय कर पाया कि इन कसाइयों के द्वारा बापू हलाल किये गए हैं ! इन्होंने बापू पर लेखनी नहीं तलवार चलाई है ! ये ही बापू के वास्तविक हत्यारे हैं, इतने दिन तक तो उनके मरने की केवल अफवाह ही सुनता आ रहा था !

*

*सूत की माला, खादी के फूल, रक्त चन्दन

पिछले पाँच छः साल से बच्चन और पंत के द्वारा लिखी हुई किताबों को पढ़ना तो दूर, किसी दूसरे के हाथ में इन दोनों की नवीन से नवीनतम कृति को देखकर भी, उसे अपने हाथ में लेकर पन्ने टटोलने भर तक की इच्छा को मैं हाई-स्कूल की चहार दिवारी के भीतर ही रख छोड़ आया हूँ। इन दो कवियों के प्रति घृणा की भावना ने धीरे-धीरे अपनी प्रतिक्रिया के विस्तार का फैलाव यहाँ तक बढ़ा लिया कि कविता नाम की संज्ञा तक से घृणा हो गई, कविता की पुस्तक पढ़ने को जी नहीं करता।

शुरू शुरू में बच्चन ने संयोगवश कुछ अच्छी कविताएँ लिख डाली थीं; यह बात तो मैं अब भी स्वीकार करता हूँ, परन्तु कोमलकांत पदावली के इस सुमधुर कवि श्री सुमित्रानन्दन के द्वारा, अध्यापकों और प्रोफेसरों के बार-बार निर्देशन पाकर भी, मैं एक क्षण भर के लिये ही 'बेवकूफ' नहीं बन पाया, इसका मुझे बहुत अधिक गर्व और अभिमान है !

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जो चिरगाँव जिला झाँसी के निवासी हैं, उनको तो आठवीं कक्षा पास करने के पश्चात्, गर्मियों की छुट्टियों में ही अच्छी तरह से समझ लिया था; पर उम्र की दृष्टि से वे मुझसे बहुत ज्यादा बड़े हैं, इसलिये उन्हें कुछ भी कहने को जी नहीं करता !

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (ये किस गाँव और किस ज़िला के निवासी हैं, मुझे नहीं मालूम) की समूची 'मेहनत मजदूरी' को अच्छी तरह पढ़ने के बाद यह प्रतिक्रिया हुई कि जब जब रवि बाबू का चित्र देखने को मिलता हैं, उसी क्षण इन 'महाकवि' की याद आ जाती है, और एक प्रश्नवाचक शंका घुमड़ उठती है कि दाढ़ी तो अयोध्यासिंह उपाध्याय के भी थी; दाढ़ी के इस नन्हे से स्पष्ट साम्य को देखकर, रवि बाबू के सम्मान में भी इच्छा न होते हुए कुछ कमी आ जाती है ! अपनी इस विवशता को मैं आज दिन भी मिटा नहीं पाया हूँ।

महादेवी वर्मा (पहिले गद्य लेखिका, फिर कवयित्री) के प्रति मोह और प्यार के किनारे को अब भी मेरे पाँव छू नहीं पाये हैं, उसका फैलाव काफी बड़ा है !

प्रसाद की कामायनी के अब तक काफी संस्करण निकल चुके हैं—सैकड़ों, हजारों प्रतियाँ खप रही हैं, खपती जा रही हैं। स्पष्ट है कि बहुतों ने इसे पढ़ा है—

वहुत वार पढ़ा है, वहुत अच्छी तरह से पढ़ा है। पर उससे संवन्धित जितनी भी आलोचनाएँ मेरे हाथ लगीं, उन्हें पढ़कर निर्भयता के साथ कहा जा सकता है कि कामायनी को समझना वाकी है, और जिस दिन उसे अच्छी तरह से समझ लिया जायेगा, उस दिन हिन्दुस्तान के वाहर के देशों में वड़ी धूमधाम के साथ प्रसाद के जन्मोत्सव की क्रमशः वढ़ोतरी होती ही रहेगी।

लेकिन कामायनी, या उसी तरह की अन्य रचनाओं को अच्छी तरह समझने की सव से पहिली और आखिरी शर्त है—वुरी और निम्न कोटि की रचनाओं का वहिष्कार, उनका जी भर कर तिरस्कार ! और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो जिससे इस तरह की निकृष्ट रचनाओं के द्वारा पाठकों के समय, की हत्या और उनके मानसिक स्तर को कुंठित करनेवाले तथाकथित कवियों, व लेखकों को समाज और न्याय दोनों की ओर से दंडित किया जाय।

धन की चोरी करनेवालों, और मनुष्य नाम के प्राणी का खून करनेवाले क़ातिलों में से कुछ अपरावी वच भी जाँय तो ऐसी कोई वात नहीं, पर इस तरह के साहित्य की सर्जना करनेवालों को छोड़ दिया जाय तो मेरी उदारता और सहृदयता के किसी भी कोने को यह मान्य नहीं। उन्हें सजा मिलनी ही चाहिये, अपराव से सौ गुनी अधिक भी सजा मिल जाय तो वह अन्याय नहीं ! मेरी न्याय-धारणा का यह एकमात्र निर्णय है, और इसमें रंच मात्र भी परिवर्तन करने की हठधर्मी को वहुत समझाने-वुझाने पर भी मैं छोड़ नहीं सकता !

भारतीय सिनेमा और हिन्दी-साहित्य दोनों के प्रति मेरी यही एक समानरूप से धारणा है !

साथ में मुझे इस वात की भी अच्छी तरह से चेतना है, कि जव तक समाज की इस वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं हो जाता, तव तक कला को भी आसानी से दूसरा पहिनाव नहीं पहिनाया जा सकता—चाहे उसके पुराने वस्त्र कितने ही अधिक जीर्ण-शीर्ण क्यों न हो गये हों। उन फटे हुए चियड़ों के झरोखों से होकर दिखनेवाली उस नग्नता को भी मन मारकर सह लेना ही पड़ता है ! यदि इसके विरोव में कुछ वैसी कोशिश भी की जाय तो सामाजिक व्यवस्था की ज्ञात, अज्ञात विभीषिका उस ओर हाथ वढ़ाने ही नहीं देती, तव अंत में एक मात्र यही चारा रह जाता है कि सव से पहिले उस सामाजिक व्यवस्था ही को वदल

तो इस बात का मुझे पूर्णतया विवेक है, और मैं उसे ऊपरवाली पंक्तियों में अपने 'दाहिने हाथ से स्याही द्वारा' लिखकर स्वीकार भी कर चुका हूं, फिर भी बहुत बार भारतीय चलचित्रों को देखते ही सारे ज्ञान, विवेक पर क्रोध की भावना सवार हो ही जाती है। कोशिश करने पर भी मैं उसे रोक नहीं पाता; और जिसकी प्रतिक्रिया का पहिला कदम यही होता है कि इन सिनेमाओं के नायकों, निर्देशकों और निर्माताओं को बिना किसी गवाही के फाँसी की सजा एक दम से दे दी जाय !

यदि कोई पुरुष किसी औरत को कड़े और अश्लील शब्द भी कहे और इस बात को स्वयं की आंखों से न देख, किसी के मुँह से सुन भी लूँ तो मुझे उससे घृणा हो जाती है; पर भारतीय चल चित्रों में काम करनेवाली इन तथाकथित अभिनेत्रियों को, जिनका नाम तक देने में मुझे झिझक नहीं होनी चाहिये—मतलब कि सुरैया, नरगिस, निम्मी, मधुबाला और कक्कू आदि को कोई खुले बाजार चांदनी चौक या चौपाटी पर, चुट्टे पकड़ कर, बिना जूते खोले लातें मारे, थप्पड़ मारे और उस सुन्दर दृश्य को अपने दोनों खुली आँखों से देखने के पश्चात् भी उस सज्जन की मित्रता को अपना सब से बड़ा सौभाग्य समझने में मुझे तनिक भी झिझक नहीं होगी !

हिन्दी के अधिकांश 'साहित्यकारों' के लिये भी मेरी अपनी 'ताजीरात हिन्द' में केवल यही एक धारा है—यही नियम है—यही उपधारा है !

इसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, अभी पिछले चार-पाँच महीनों से कहानी और उपन्यास लिखने की आदत को नियंत्रित करके मैं आलोचना लिखने के लिये, अपने आपको विवश कर रहा हूँ, बाध्ति कर रहा हूँ। अभी तक उस पुस्तक को पूरे रूप से समस्त तैयार तो नहीं कर पाया हूँ, पर विश्वास है कि कुछ दिनों में उसे तैयार कर ही लूंगा। नाम रखने की इच्छा है—'यह पीढ़ी मर चुकी है—इसे कंधा दो !'

कोई आत्म-विज्ञापन की दृष्टि से नहीं, पर अपने भीतर के आलोचक के स्वभाव का कुछ परिचय देने के लिये उन आलोचनाओं की सूचि केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। सो उन आलोचनाओं का क्रम तो समय के साथ ही निश्चित होगा, पर उनके विषय इस प्रकार हैं :—

१. * शेखर–एक प्रतिमा !

२. * उपन्यास शिशु प्रेमचंद !
३. * अछूत निराला !
४. * बच्चन की ल्हाश !
५. * किंपुरुष सुमित्रानंदन !
६. * चित्रलेखा या चित्रलेख !
७. * दादा कॉमरेड में निकृष्ट आदर्शवाद !
८. * सुनीता के साथ व्यभिचार !
९. * इलोजी (इलाचंद) घोड़ों के पारखी !
१०. * प्रगतिवाद के कपूत !
११. * गुलाबी साथियों से !
१२. * अमृतराय वल्द प्रेमचंद !
१३. * 'कुमारी' हिन्दी के 'शोहदे !'
१४. * पूँजीवाद का दलाल किशनचंदर !
१५. * खैयाम के हत्यारे ! (पंत, बच्चन, गुप्त, त्रिपाठी)
१६. * अश्क का सन्निपात !
१७. * हिन्दी के कुछ साहित्यिक चोर !
१८. * साहित्य के ठेकेदारों – सावधान !
१९. * साहित्य का प्रयोजन और उसकी मान्यताएँ !
२०. * हिन्दी के अनुवादकों से !
२१. * यशपाल की हठधर्मी !

इनमें की आलोचनाओं को आधे से कुछ कम ही लिख पाया हूँ, और आधे से ज्यादा लिखना अभी शेष है। इस सत्य की जानकारी के बाद इस शंका का उभर आना नितांत स्वाभाविक ही है कि तो फिर मैंने हाथ में के इस विशेष कार्य को बीच ही में छोड़ कर, इस दूसरे ही नये काम को हाथ में लेने की क्यों आतुरता प्रगट की ? और यदि 'बापू के तीन हत्यारों' के रूप में मुझे इन तीन कृतियों की आलोचना करनी ही थी तो उसे यह अलग ही रूप देने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? उस सीरीज़ के बीच में इधर-उधर यह भी कहीं खप जाती । एक–और अधिक सही, इक्कीस की जगह बाईस आलोचनाएँ हो जातीं तो ऐसा कौनसा भार बढ़ जाता, जब कि यह विषय भी ठीक उसी के अनुरूप है।

ये सभी शंकाएँ मुझे मान्य हैं, इनके समाधान को लेकर मेरे पास वैसा कोई उत्तर नहीं है—पर इसके पक्ष में मेरी अपनी कुछ सफाई अवश्य है। ठीक सफाई तो

नहीं कहा जा सकता, पर इस आलोचना को अलग से प्रकाशित करवाने के लिये मुझे इस उतावलेपन का क्यों सहारा लेना पड़ा, उन क्रमिक परिस्थितियों की बाध्यता के इतिहास की कथा इस प्रकार है :—

तेजपाल हमारी जसवंत कॉलेज का बुक लिफ्टर है, कुछ अधिक जान पहिचान होने के कारण, ऐसी-वैसी हलकी बातें भी कर जाया करता है जो साधारण स्थिति में दूसरे विद्यार्थियों से नहीं कर पाता। एक दिन दोपहर को मैं और सत्यप्रकाश खादी के फूल, सूत की माला और रक्तचंदन साथ बैठे-बैठे पढ़ रहे थे। पढ़ तो क्या रहे थे उन्हें इधर-उधर से यों ही देख रहे थे, कि इस बीच में वह हम दोनों के पास आकर खड़ा हो गया, पास आते ही बिना किसी विलम्ब के कहने लगा—अरे यार ! तुमने भी छांट-छांट कर किताबें निकाली हैं। माफ कीजिये, मेरी समझ तो एक चपरासी की समझ है, पर साफ कहूँगा कि ये तीनों किताबें यदि रद्दी के भाव भी खरीदी जांय तो भी महंगी हैं।

वह तो इस तरह अपना काम पूरा करके चला गया, पर हमने और भी अधिक उत्सुकता भरी जिज्ञासा के साथ उन किताबों को पढ़ना आरंभ कर दिया।

प्रत्येक किताब के एक-एक पन्ने की तीन-तीन, चार-चार पंक्तियां पढ़ते रहे, और हंसते रहे, पन्ने उलटते रहे।

पास के लड़कों ने निश्चय रूप से समझा होगा कि कोई हास्य-रस की किताबें होंगी। पर वास्तव में वे किताबें न तो हास्य-रस की थीं, और न शृंगार-रस की। उनका विषय था बापू—जीवित नहीं, मृत बापू ! उनके मरने पर कवि ने कविताओं के रूप में अपना रोना रोया था, और हमें उनके रोने पर हँसी आ रही थी !

अचानक जोशी ने प्रश्न किया—अच्छा बिज्जी एक बात तो बतला दे कि इन तीनों किताबों में से कौन अधिक खराब है ?

मैंने वापिस उसी से प्रश्न किया—पहिले तू ही बतलादे।

उसने उत्तर दिया कि मैं चाहूं तो उसे व्यवहार गणित के सौ सवाल भले ही दे दूं, वह उनको जैसे-तैसे हल कर ही देगा, पर इस प्रश्न का उत्तर देना उसके वश की बात नहीं है। मेरा जवाब था कि इनमें से कौन ज्यादा खराब है—यह प्रश्न कुछ कठिन सा है; पर इनमें से जो सबसे अच्छी है, उसका नाम तो मैं एक सैकिंड में बतला सकता हूं—कारण सहित !

जोशी ने मुस्करा कर पूछा---सो ही बता ।

मैंने वतलाया---रक्त चंदन ।

उसने फिर प्रश्न किया---क्यों ?

मेरा उत्तर था---कि इसकी कीमत इन दोनों कितावों से वहुत अधिक कम है---और इसके पढ़ने में समय भी कम लगता है---इसलिये ।

इस पर हँसी आ जाना स्वाभाविक ही था । इसी वीच में आ गया–रैंवत ! शायद सवसे पहिले उसकी नज़र उन जिल्दवाली कितावों पर ही पड़ी होगी, तभी तो उसने आते ही सवसे पहिले यही वात की---ओ हो ! इन दोनों कितावों के लिखने में वच्चन ने क्या-क्या क़मीनापन नहीं किया ? तुमने पढ़ा है इन्हें ?

हमने स्वीकार किया कि कुछ ही समय पहिले हम इन्हें पढ़ने की भूल कर चुके हैं ।

इधर-उधर की वातों के पश्चात् हम सर्व सम्मति से इस निर्णय पर पहुँचे कि 'वापू के तीन हत्यारे' इस रूप में एक छोटी-सी आलोचना लिखी जाय । प्रस्ताव पास हो गया, और मुझ पर ही इसका भार लाद दिया गया । पर एक वाधा थी कि उस समय तक कितावें इस्यू नहीं हो रही थीं, फिर उन्हें घर पर कैसे ले जाया जाय ? हम तीनों ही उस प्रस्ताव को लेकर विजयसिंहजी देवड़ा (लाईब्रेरियन साहव) के पास पहुँचे । उन्होंने वात पूरी सुनी ही नहीं, और वे वीच में ही हमसे भी अधिक उत्साह के साथ वोल उठे---जरूर-जरूर ऐसी रद्दी कितावों का खंडन होना वहुत जरूरी है । सो उन्होंने अपने नाम पर वे तीनों कितावें हमें दे दीं ।

ख़ुशी–ख़ुशी उन कितावों को वाहर लेकर हम नीम के नीचे आकर खड़े हो गये । तो संयोगवश आ गया नारायणसिंह । मेरे हाथ में की कितावों के नाम पढ़कर उसने विना पूछे ही मुझसे एक किताव छीन ली–खादी के फूल । किताव को देखते ही उसे एकदम से गुस्सा आ गया । दाँत किटकिटाकर वोला---यह इतनी रद्दी किताव है कि क्या वताऊँ ? यदि वच्चन जोधपुर में आ जाय तो उसका भेजा फोड़ दूं ।

उसके इस गुस्से को देखकर मुझे और भी वढ़ावा मिला । मन ही मन निश्चय किया कि इस किताव को जल्दी ही समाप्त कर देना चाहिये–ज्यादा समय वर्वाद करना ठीक नहीं ।

में अपनी ओर से लिखित रूप में आलोचना शुरू करूं उसके पहिले ही पाँच आलोचकों ने एक-एक दो-दो वाक्यों द्वारा मौखिक रूप में अपनी आलोचनाएँ समाप्त भी कर दीं।

माना कि—तेजपाल एक चपरासी है, ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं—इसलिये उसकी राय ज्यादा वोझ नहीं रखती; वोझ भले ही न रखे, पर वह सोलह आने सही अवश्य है। उसकी आलोचना अपने में पूर्ण है कि यदि इन किताबों को रद्दी के भाव भी खरीदा जाय तो भी महंगी हैं।

रेंवत के कहने में कोई अत्युक्ति नहीं थी कि इन दोनों किताबों के लिखने में वच्चन ने क्या-क्या क़मीनापन नहीं किया। 'क़मीनापन' जरा ओछा शब्द अवश्य है—पर उस समय जल्दी में मन की वात वाहर निकल ही आई—इसलिये वह संयमित भाषा का प्रयोग नहीं कर सका। पर मैं समझता हूं कि इस शब्द का वहुत ही उपयुक्त स्थान पर बड़ा अच्छा प्रयोग हुआ—इसमें कोई संदेह नहीं।

विजयसिंह जी इसके अन्यथा और कहते ही क्या कि ऐसी निकृष्ट कोटि की पुस्तकों का अवश्य खंडन होना चाहिये।

रही बात नारायणसिंह की—जो एक राजपूत होने के कारण अपने परम्परागत संस्कारों के नाते कुछ आवश्यकता से अधिक गुस्से हो गया, यह उसके वश की बात नहीं थी; जब वच्चन ने अपनी इन किताबों के द्वारा उसके समय की हत्या की तो यदि वह इसके वदले में उसका भेजा फोड़ने की वात कह डाले तो उसका यह क्रोध न्याय की दृष्टि से संगत भले ही न हो, पर कम से कम वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंगत तो विलकुल ही नहीं था!

इन सभी आलोचकों की सम्मतियों को जो मौखिक रूप में उनके द्वारा दस-बीस अक्षरों में दे दी गई हैं—उनकी सत्यता को प्रमाणित करने का जिम्मा आ पड़ा मुझ पर। मुझे लिख कर उनको प्रमाणित करना है। कहूँ कि इन कवियों के विरुद्ध इनकी नालिश है—और मुझे इन सबकी वकालत करनी है।

वकालत तो अवश्य करूँगा ही पर ज्यादा मेहनत नहीं करूँगा। जिस (वच्चन) कवि ने सौ दिनों में विना किसी उद्देश्य व सिद्धांत के दो सौ चार कविताएं लिख मारी हैं, उसकी आलोचना करने में, मैं भी सप्ताह भर से—या ज्यादा भी हुआ तो दस दिन से अधिक समय देने में असमर्थ हूँ।

सो आलोचना के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए मैं न तो तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा इनकी आलोचना करना चाहूँगा और न कला के किसी निश्चित मापदंड के सहारे इन कविताओं को उसकी कसौटी पर परखने की नादानी करूँगा।

सोने में कुछ भ्रम हो तो, उसे कसौटी पर कस कर वह भ्रम मिटाया जा सकता है, पर पीतल या ताँवे को इस तरह नहीं परखा जाता, वह एक ही दृष्टि में पहिचान लिया जाता है, और पहिचानने के वाद वापिस उसी जमीन पर फेंक दिया जाता है।

मेरी यह आलोचना भी कुछ इसी प्रकार की होगी। ये तीनों कितावें अपने आप ही में कितनी अधिक बुरी हैं, मैं उदाहरण देकर, विस्तारपूर्वक यही समझाने की कोशिश करूँगा—इससे अधिक और कुछ भी नहीं।

और मैंने यह साहस इसलिये किया है कि जव एक घंटे भर में एक ही स्थान से मुझे ऐसे पाँच आदमी मिल गये जिनका कि मुझसे भी कहीं अधिक इन कितावों के कवियों पर आक्रोश है—तव सारे हिन्दुस्तान में कम से कम सौ आदमी तो ऐसे होंगे ही, भले ही वे मेरी आलोचना पद्धति से सहमत न हों, पर इन कविताओं के प्रति निश्चय रूप से उनकी भी यही राय होगी।

आज के हिन्दुस्तान में निन्नानवे प्रतिशत व्यक्तियों की सौंदर्यानुभूति को प्रतिक्षण अपनी खुली आँखों से देख कर, सौ से अधिक आदमियों की जिम्मेवारी लेने की हिम्मत नहीं होती। निराला जैसे कवि जिस देश में महाकवि माने जाते हों 'युग पुरुष निराला' 'महा प्राण निराला' जैसे मोटे-मोटे ग्रंथ जिस देश में प्रकाशित होकर काफी संख्या में विक जाते हों, जहाँ प्रेमचन्द को 'उपन्यास सम्राट' माना जाता हो, मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों की जहाँ कड़ी आलोचना नहीं करके उन्हें आवश्यकता से अधिक सम्मान दिया जाता हो और एक ही दिन में तीन-तीन वार, हिन्दुस्तान के हर सिनेमाघर के सामने निकृष्ट से निकृष्टतम चलचित्रों को देखने के लिये हजारों की संख्या में भीड़ की भीड़ उमड़ पड़ती हो—उनके टिकट काले वाजार में विकते हों, और इसके विपरीत गोपीनाथ और छोटे भाई जैसे एकाध थोड़े वहुत अच्छे चलचित्रों के लिये जहाँ सारे सिनेमा घर में मुश्किल से तेरह आदमियों को अलग-अलग से इधर-उधर वैठा पाया जाता हो—उस देश में फिर सौ आदमियों से अधिक कल्पना भी करने का कैसे दुस्साहस किया जाय?

इन सब जानकारियों के बावजूद भी मेरी विवशता ने मुझे यह आलोचना लिखने को बाध्य किया है–और मेरा विश्वास है कि मैं सही हूँ सौ बार सही हूँ, लाख बार सही हूँ।

जनतांत्रिक सिद्धांतों में पूर्णतया विश्वास करने पर भी मैं कम से कम इस क्षेत्र में तो अपने विरोध के बहुमत को चाहने पर भी मान्यता नहीं दे सकता, और न इसके लिये क्षमा-याचना भी करना उचित समझता हूँ। ऐसा बहुमत स्वयं क्षमा का पात्र है–दया का पात्र है। कोशिश करूँ कि उसकी नासमझी और अज्ञानता जैसे-तैसे भी दूर हो, और वह मेरे पक्ष में हो जाय। अपने पक्ष की इस सबल महाशक्ति के लोभ की चाह मुझे भी है–मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

और आज इसी कारण जीवन में पहिली बार लिखने से कहीं हजार गुना अधिक, इस लिखे हुए को प्रकाशित करने की उपादेयता का मैंने अपने रोम-रोम से अनुभव किया है। उसकी आवश्यकता, दोपहर के उजाले की तरह मेरी आँखों के सामने स्पष्ट हो गई है।

सुमेर बिल्डिग,
रातानाडा रोड,
जोधपुर.

विज्जी
३.१२.५१

बापू के तीन हत्यारे!

१. सुमित्रानंदन पंत

◎ चाहे वह कविता स्निग्ध चाँदनी पर लिखी गई हो, और चाहे तीन घाव लगे बापू की दुबली-पतली अधनंगी लाश पर ! इनकी कविता का विषय चाहे गाँव की अल्हड़ गुर्जरी का नृत्य हो, चाहे रक्त से सनी हुई बापू की लाश के तड़फड़ाते पाँव, पर पंत जी की कविता में कभी किसी तरह का व्यक्तिक्रम नहीं होता ! वही ताल, वही लय, वही ध्वनि, वही अभिव्यक्ति और वे ही गिने-चुने शब्द—जो खून और ऊषा की लालिमा दोनों के लिये समान रूप से प्रयोग किये जाते हैं !

★

◎ पंत जी की डायरी में लिखे हुए कोमल शब्दों की सूचि का जब उनके हाथों कविता के रूप में प्रयोग किया जाता है, तब वह दो ग्रामीण पंजाबियों की बात चीत से भी कहीं सौ गुना अधिक कानों को खटकता है ! हिन्दी के आदि कवि चंदर वरदाई के द्वारा लिखे गये पृथ्वीराज रासो के शब्द कठोर होने पर भी वे मतलब नहीं हैं, पर पंत जी की कविताओं के कोमल शब्द, अपने आप में तो अलग से कोमल होने पर भी, उनके हाथों प्रयोग में आने पर, इतने कठोर हो जाते हैं कि जिनका आघात मस्तिष्क के स्नायुओं तक को झकझोर डालता है ! निरर्थक दुरुपयोग की अपव्ययता ही उन्हें इतना कठोर बना देती है !

★

◎ जानता हूँ कि हिंदी के पाठकों को यह स्वीकार करते हुए बड़ा दुख होगा कि पंत जी की रचनाएँ, न शब्द-कोष के संक्षिप्त संस्करण के अंतर्गत ही आती हैं, और न साहित्य के किन्हीं अंग-प्रत्यंगों में उनका समावेश ही किया जा सकता है ! बहुत कुछ खींचातानी के बाद उनकी रचनाओं को शब्द-कोष का बिगड़ा हुआ, अपूर्ण और अवैज्ञानिक रूप कहकर माना जा सकता है ! क्योंकि कुछ निश्चित नहीं कि 'क' से आरम्भ होनेवाले अक्षर कहाँ और किस स्थान पर खोजे जा सकेंगे ? और शब्दकोष के प्रति यह तो विश्वास बना ही रहता है कि 'अ' से आरम्भ होने वाले अक्षर, अपने क्रमानुसार वहीं मिल जायगें; 'म' और 'ट' के खानों में टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं ! पर पंत जी की रचनाओं के शब्दजाल में यह सुविधा भी तो नहीं है !

वच्चन और पंत, हिन्दी के इन दोनों कवियों की अच्छाई और वुराई को थोड़ी देर के लिये अलग भी रख दिया जाय तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वे हिंदी जगत के पिछले कई वर्षो से जाने-पहिचाने कवि हैं। जिसको भी आधुनिक हिंदी की विचार-धारा या उसके क्रमिक विकास का कुछ भी ज्ञान है, वह इन दोनों कवियों को थोड़े-बहुत रूप में तो जानता ही होगा—इसमें कोई संदेह नहीं। कम से कम वच्चन की मधुशाला, और पंत की छाया, अप्सरा और बादल आदि कुछ इधर-उधर की छुट-पुटी कविताओं से, और कहीं नहीं तो पाठ्य-पुस्तकों में परिचय हो ही गया होगा। इसलिये विलकुल नये रूप से इनका परिचय कराने की आवश्यकता नहीं।

वच्चन और पंत कवि तो हैं ही, पर साथ में इन दोनों के बीच घनिष्ठ मित्रता भी है। पर आज के पहिले मित्र रूप में किसी भी कविता की पुस्तक के बीच हमारा इनसे वास्ता नहीं भी पड़ा। दोनों की अलग-अलग से कई पुस्तकें बाजार में आईं और विक गईं। उन विकी हुई किताबों से उन्हें शायद लाभ भी बहुत हुआ होगा और इस कारण यही अनुमान करना स्वाभाविक और संगत है कि इन्होंने अलग-अलग से ही अपना लाभ उठाया होगा। वे अलग-अलग से ही उस लाभ के अधिकारी थे।

पर 'खादी के फूल' में पहिली वार इनको मित्र-रूप में साथ भी देखा। बापू की मृत्यु को लेकर इन्होंने यह एक शामिल व्यवसाय किया। इनके नाम का बाजार तो पहिले से ही अच्छा चल रहा था—और उस पर बापू की मृत्यु का विषय, फिर क्या कहना! दोनों के साथ जुड़ने से और भी अधिक लाभ की संभावना दीख पड़ी। प्रकाशकों को भी वर्षो के बाद ऐसा अवसर सौभाग्य से प्राप्त होता है। वे यदि इस तरह के सुअवसरों का ज्यादा से ज्यादा फायदा न उठावें तो फिर व्यव-

सायी कैसे ? ऐसे मौके पर वे लेखकों से भी खींचा-तानी नहीं करते, उन्हें भी मनमाना टुकड़ा डाल देते हैं, पर साथ में कसकर मेहनत भी पूरी करा लेते हैं—यह भी सही है ।

भगवान के भजन में साधन रूप से काम आनेवाली माला के दाने होते हैं—एक सौ आठ । सो शायद इसी दृष्टि से बापू की मृत्यु पर श्रद्धांजलि के रूप में इन दोनों कवियों द्वारा एक सौ आठ ही खादी के फूल चढ़ाये गये हैं । बापू के शव पर गुलाब, कमल, मखमल या रेशम के फूल तो चढ़ने से रहे, केवल खादी के फूल ही वहाँ ग्राह्य हैं ।

केवल पन्द्रह कविताएँ ही पंत की हैं—बाकी सब बच्चन की । एक सौ आठ में से पन्द्रह गये—पीछे रहे तर्राणूं । मतलब कि तर्राणूं कविताएँ अकेले बच्चन की हैं । पंद्रह कविताओं के छोटे से संग्रह को अलग से प्रकाशित भी तो नहीं किया जा सकता—सो पंत जी की ये कविताएँ बच्चन के साथ जोड़ दी गईं—एक तरह से अच्छा ही हुआ । हो सकता है कि प्रकाशक के द्वारा दिये गये निश्चित समय की अवधि में पंत इससे अधिक कविताएँ लिख ही नहीं सके हों । रुपयों के लोभ से एक साथ इतनी भी लिख डाली गईं—वह भी क्या कम बात है ? और इधर बच्चन को तो अपने नाम और काम पर पूरा विश्वास है ही । वह सौ दिन को छोड़ कर एक ही दिन और एक ही रात में इस तरह की दो सौ चार कविताएँ लिख डाले तो भी कम है ।

कविताओं के हिसाब के अनुसार, इस व्यवसाय में एक दूसरे के लाभ का क्या अनुपात रखा गया है, इसकी सही जानकारी का अनुमान भी मेरे लिये लगाना संभव नहीं । खैर, कुछ भी हो, हैं तो दोनों परस्पर घनिष्ठ मित्र ही न; चार आने कम-ज्यादा भी आ जाँय, तो भी घर की ही बात है । घी गिरा तो भी मूंग और चावल में—कहीं बाहर तो नहीं ।

बच्चन की कविताएँ, पंत से यों ही बहुत ज्यादा हैं, इसलिये प्राक्कथन लिखने का हिस्सा पंत को दे दिया गया । सो 'खादी के फूल' का प्राक्कथन दोनों ने मिलकर नहीं, अकेले पंत ही ने लिखा है ।

पंत के द्वारा लिखे गये इस प्राक्कथन की पहली चार पंक्तियों को छोड़ कर पिछला पूरा अंश यों का यों उद्धृत करना कुछ जरूरी-सा हो गया है :—

" महात्माजी के अश्रांत उद्योग से जहाँ हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई है—वहाँ उनके महान् व्यक्तित्व से हमें गंभीर सांस्कृतिक प्रेरणा भी मिली है, महात्माजी ने राजनीतिक कर्दम में अहिंसा के वृत्त पर जिस सत्य को जन्म दिया है, वह संस्कृति की देवी ही का आसन है, अतः बापू के उज्वल जीवन की पुण्य-स्मृति से सुरभित इन खादी के फूलों को हम पाठकों को इस विनीत आशा से समर्पित कर रहे हैं कि हम खादी के स्वच्छ परिधान के भीतर गाँधी वाद के संस्कृत हृदय को स्पंदित कर सकेंगे।"

प्रयाग—
मई १९४८ श्री सुमित्रानंदन पंत

तीस जनवरी सन् १९४८ को महात्मा गाँधी का निधन हुआ, और उसके तीन महीने बाद ही यह प्राक्कथन लिख दिया गया है—इससे स्पष्ट है कि ये कविताएँ इस प्राक्कथन की तारीख से तो पहिले ही लिखी हुई हैं। प्राक्कथन और कविताओं की संपूर्णता के बीच कुछ समय छापेखाने ने भी लिया होगा; इन सब बातों से सहज ही में निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन कविताओं के लिखने और उन्हें प्रकाशित करने में आवश्यकता से बहुत अधिक तत्परता से काम लिया गया है। समय की बढ़ती के साथ निश्चित रूप से चढ़ते भावों के क्रमिक ह्रास की आशंका से प्रकाशक और लेखक दोनों ही भयभीत थे।

प्राक्कथन के रूप में इन पंक्तियों को लिखनेवाला लेखक यू० पी० प्रगतिशील लेखक संघ का एक सम्मानित सदस्य है, उसके नाते मैं उससे यह प्रश्न नहीं भी करूँगा कि भारत की इस तथाकथित आज़ादी में उसका कहाँ तक विश्वास है? क्या वह भी इस स्वाधीनता के भ्रम को वास्तविक स्वाधीनता समझने की भूल कर रहा है; यदि वह प्रगतिशील लेखक संघ की विचार-धारा और उसके सिद्धांतों में विश्वास करता है—तो फिर उसे 'महात्माजी के अश्रांत उद्योग से जहाँ हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई है—वहां उनके महान् व्यक्तित्व से हमें गंभीर सांस्कृतिक प्रेरणा भी मिली है?' इस तरह के वाक्य लिखने का वह अधिकार है या नहीं?

इन सब बातों की जवाबदेही करने का यह उचित अवसर नहीं भी है। सैद्धांतिक मतभेदों के विवाद को मैं अपनी इस आलोचना का विषय नहीं बनाऊँगा। आलोचना करने के समय तक मैं यह मानकर ही चल रहा हूँ कि श्री सुमित्रानन्दन पंत में दो पारस्परिक विरोधी सिद्धांतों के प्रति समान रूप

से ईमानदारी रखने की ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है। वे एक ही समय दो अलग-अलग नावों पर बैठकर बड़ी आसानी से **'नौका विहार'** का आनंद ले सकते हैं।

परन्तु इस प्राक्कथन की अंतिम पंक्ति के प्रति मेरा विरोध है—'कि हम खादी के स्वच्छ परिधान के भीतर गाँधीवाद के संस्कृत हृदय को स्पंदित कर सकेंगे।' इस पंक्तिवाले लेखक के हाथों लिखी हुई कविताओं को पढ़ने के पहिले भले ही इन शब्दों में संदेह और अविश्वास की दुर्गन्ध न मिले पर सारी कविताओं को पढ़ने के पश्चात कवि की आत्म-वंचना को किसी भी उदारता पर अंगीकार नहीं किया जा सकता। ये कविताएँ ही स्वयं, लेखक की ईमानदारी के लिये एक महान् चुनौती के रूप में खड़ी हैं—जिसका जवाब पंत और बच्चन दोनों मिलकर भी नहीं दे सकते।

पंत के द्वारा महात्माजी से संबंधित इन पन्द्रह कविताओं की आलोचना करने के पूर्व, मैं पंत की सम्पूर्ण कविता-शक्ति के प्रति अपने दृष्टिकोण को संक्षेप में बतला देना कुछ जरूरी समझता हूँ।

कवि के रूप में हिन्दी साहित्य के इतिहास को पंत की जो एक 'मौलिक नई देन' है, उसकी महत्ता के प्रति संदेह की अमान्यता को मैंने सोते हुए भी स्वीकार नहीं किया। केवल हिंदी ही को नहीं, समूचे 'विश्व साहित्य' को शायद पंत के इस 'नये प्रयोग' द्वारा पूर्णतः प्राप्त हुई है—युगों से चलती आई कमी की पूर्ति इन्हीं के कोमल हाथों द्वारा सम्पूर्ण हुई है।

केवल कविता करने से ही कोई कवि नहीं हो जाता, और न कवि के लिये कविता करना कुछ जरूरी ही है। सारी उम्र भर गद्य ही गद्य लिखकर भी कोई,कवि कहलाने का अधिकारी हो जाता है। शरत् बाबू उपन्यासकार के साथ-साथ एक बहुत अच्छे कवि भी थे,उनकी दृष्टि कवि की दृष्टि थी—हालाँकि प्रकाशन के रूप में आज दिन तक उनके हाथों लिखी हुई कविता की एक पंक्ति भी उपलब्ध नहीं है। और इधर कोमलकांत पदावली की रचना करनेवाले श्री सुमित्रानन्दन पंत, जिन्होंने कविताओं की कई पुस्तकें छपवाकर प्रकाशित करवा दी हैं, तब भी वे अभी तक कवि नहीं बन पाये। जिस व्यक्ति के दिल में गुलाब के विकसित फूल, चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी, बादलों की उड़ान और खून से लथपथ किसी बच्चे की लाश, उसकी पथराई हुई आँखों को देखकर समान रूप से, एक सी ही भावनाएं उद्वेलित होती हों, इन सभी विषयों पर लिखी हुई कविताओं में सर्वत्र एक से शब्द, एक सी उपमाएँ और एक सी अभिव्यंजना से यदि कोई इधर-उधर

से शब्दों को सजाकर तुकबन्दी कर ले तो, उसे कवि की संज्ञा से कैसे संबोधित किया जाय ?

अकाल की विभीषिका और बरसात के निरुपम दृश्य पर जिसकी लेखनी समान भाव से अभिव्यंजना करती चली गई हो, उसके मनुष्य होने में भी जहाँ संदेह होना चाहिये, वहाँ उसे किस दया की प्रेरणा से कवि कहलाने का अधिकार सौंपा गया—मेरी समझ में नहीं आता।

दो हाथ पैर, और हँसना जाननेवाले जीवधारियों में पुरुष और स्त्री के अन्यथा नपुंसक नाम की भी एक श्रेणी है, चाहे उनकी संख्या कितनी कम ही क्यों न हो। कोई मनुष्य रूप में नपुंसक होते हैं—तो कोई कवि रूप में—जिनकी कि कविताओं में नपुंसकता की प्रतीक-संवेगहीन और भावना रहित अभिव्यंजना मिलती है।

जिन कविताओं में भावना नहीं, संवेग नहीं, उतार नहीं, चढ़ाव नहीं, उठाव नहीं, अंत नहीं, हृदय का मंथन ही नहीं, अनुभूति की गहराई नहीं उनको अन्य सभी कविताओं से अलग करके यदि 'नपुंसकतावाद' के अंतर्गत यह शीर्षक देकर बाँध दिया जाय, तो इससे अवश्य साहित्य के एक 'रिक्त स्थान की पूर्ति' हो जाती है—और पंतजी को इस नये वाद का 'प्रतिनिधि' कवि मानने में कोई विवाद न होना चाहिये। इनकी रचनाओं के आधार पर हम उदाहरण देकर बतला सकते हैं कि साहित्य में भी किस तरह नपुंसकता का समावेश किया जाता है ?

इसी दृष्टि से उनका यह 'नूतन प्रयोग' पूर्ण रूपेण सफल हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। पंत के पहिले शायद संसार के किसी भी कवि को उदाहरण के तौर पर इस तरह की कविताओं के लिये खोज सकना संभव नहीं था, पर अब तो यह बात बहुत ही सहज हो गई है। साहित्य के क्षेत्र में इस 'नवीनतम प्रयोग' की एक-मात्र उपादेयता की उपेक्षा क्योंकर की जा सकती है? इसी के बल पर मैं आरंभ ही में स्वीकार कर चुका हूँ कि कवि के रूप में हिंदी साहित्य के इतिहास को पंतजी की जो एक 'नई मौलिक देन' है उसकी महत्ता की वांछित मान्यता को मैंने सोते हुए भी अस्वीकार नहीं किया! केवल हिन्दी ही को नहीं, समूचे विश्व-साहित्य को शायद पंत जी ने इस नये प्रयोग द्वारा पूर्णता प्रदान की है!

जिस किसी की भी आँखों ने, वीणा, ग्रंथि, झंकार से लेकर गांधीजी के प्रति इन पन्द्रह कविताओं की सभी पंक्तियों के ऊपर से विचरण किया है—उनको यह

वतलाने की आवश्यकता नहीं कि पंत जी की यह सफलता, पराकाष्ठा की अंतिम सीमा के कितनी समीप पहुंच गई है ?

एक सौ ग्यारह शब्दों के संचित शब्द-कोष की उसी पुरानी पूंजी पर ही खादी के फूलों तक का व्यापार किया गया है। वीणा, ग्रंथि, पल्लव, पल्लवनि, युगान्तर, गुंजन, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि—मतलव कि पंत जी की सभी किताबों में वस एक सौ ग्यारह शब्दों के चातुर्य ही पर सारा खेल खेला गया है।

चाहे वह कविता स्निग्ध चाँदनी पर लिखी गई हो, और चाहे तीन घाव लगे वापू की दुवली-पतली अधनंगी लाश पर, इनकी कविता का विषय चाहे गाँव की अल्हड़ गुर्जरी का नृत्य हो, चाहे रक्त से सनी हुई वापू की लाश के तड़फड़ाते पाँव, पर पंत जी की कविता में कभी किसी तरह का व्यक्ति क्रम नहीं होता—वही ताल, वही लय, वही ध्वनि, वही अभिव्यक्ति और वे ही गिने-चुने शब्द—जो खून और ऊशा की लालिमा दोनों के लिये समान रूप से प्रयोग किये जाते हैं !

इनकी कोई भी कविता किसी भी किताव से उठा देखिये—कम से कम इन शब्दों में से अधिकांश शब्द तो उसमें मिल ही जायेंगे:—

जीर्ण, शीर्ण, शांत, स्निग्ध, ज्योत्सना, उज्वल, अपलक, अनंत, नीरव, भूतल, दुग्ध, धवल, चेतना, दिव्य, अनामय, ज्योतिर्मय, चिर, पुराण, चिर अभिनव, अचिर, अडिग, चिर नूतन, तिरोहित, प्लावित, रजत किरण, मंडित, स्वर्गिक, शाश्वत, मर्मर, निस्तल, निश्चल, सौम्य, आभा, झलमल, अक्षय, यौवन, रे, निर्झर, तुषार, परिणय, स्वर्ण, शिखर, स्मित, अजर, उर्वर, असीम, अनिल, अमित, मानव, दर्शन, नव और म्लान।

ऐसा लगता है कि ये शब्द अपने आप स्वाभाविक रूप में इनके द्वारा कंठस्थ नहीं हो गये, पर जैसे वलपूर्वक कंठस्थ कर लिये गये हों। लगता है कि जैसे छः महीने या साल भर के निरंतर अकथ परिश्रम के वाद हिन्दी के शब्द-कोष में से छाँट-छाँट कर ये शब्द पंत जी ने अलग से अपनी डायरी में लिख लिये हों—और उन्हें नित्य प्रति कुछ दिन तक गीता के पाठ की तरह रट-रट कर अपनी मधुर वाणी में भर लिया हो।

इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि पंत जी की कविताओं में काम आनेवाले शब्द हिन्दी-शब्द-कोष के अंतर्गत ही हैं—ये उनके अपने आविष्कृत शब्द नहीं भी हैं। पर साथ में यह भी सही है कि इनके अन्यथा भी उस कोष में हजारों

शब्द और भी हैं, और न पंत जी की यह अपनी सीमित शब्दावली किसी एक ही स्थान पर यों की यों दी हुई है। इन्हीं शब्दों का वार-वार निरंतर प्रयोग इसी बात को प्रमाणित करता है कि इन्होंने कविता करने के लिये साधन रूप से इन शब्दों को चुन-चुन कर एकत्रित कर लिया है।

और कुछ शब्द तो पंत जी के सिर पर इस तरह हावी हो गये हैं कि वे पंक्ति-पंक्ति के वाद आ धमकते हैं। जैसे चिर, अचिर, चेतना और रे।

खादी के फूल की इन पन्द्रह कविताओं में चेतना शब्द का प्रयोग करीव पच्चीस वार के लगभग मुश्किल से हो पाया है।

इन उपरोक्त शब्दों के अलावा भी कुछ शब्द इस तरह के हैं कि उनका प्रयोग भी प्रत्येक कविता में चार-चार, पाँच-पाँच वार हो ही गया है। यह पंत जी के वश की वात नहीं थी।

इन पन्द्रह कविताओं में से यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि सबसे निकृष्टतम पंक्तियाँ कौनसी हैं ? कोई छाँट-छाँट कर उदाहरण के तौर पर उन्हें अलग से निकाल कर बतलाने की कोशिश भी तो नहीं की जा सकती । जो भी पंक्तियाँ जहाँ से अपने आप ही हाथ लग गईं, उन्हीं को उदाहरण के रूप में आगे लाकर रख दिया गया है—सारी की सारी कविताएँ तो यों की यों उद्धृत करके रखी भी नहीं जा सकतीं ।

> अंतर्मुख हो गई **चेतना** दिव्य **अनामय,**
> **मानस** लहरों पर **शतदल** सी हँस **ज्योतिर्मय** ।

तो ये दोनों पंक्तियाँ राष्ट्रपिता बापू के निधन पर लिखी हुई हैं; और उनकी भी कोई स्वाभाविक मृत्यु पर नहीं । दुबले, पतले हड्डी के ढाँचे पर नाथूराम के हाथों तीन गोलियों की कीमत पर उन हड्डियों पर प्रहार किया गया था—और बापू की उसी घायल देह से प्रेरित होकर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं । इन शब्दों की लय और मधुरता से ऐसा लगता है कि जैसे किसी के जन्मोत्सव के शुभ अवसर पर इन पंक्तियों की रचना की गई हो । मृत्यु के समय की वह श्मशानी उदासी, वह विक्षोभ और वह अपरिसीम वेदना इन पंक्तियों के लेखक के पास से होकर भी नहीं फटकी । पर इसके विपरीत जन्मोत्सव की खुशी और शादी की चुलबुलाहट ही इन शब्दों से प्रतिध्वनित होती है !

हमारे मारवाड़ में किसी बनिये के घर कोई मर जाता है तो पास के सभी उसकी जाति वाले, लोक दिखावे के लिये उसके घर संवेदना प्रगट करने आते हैं—और उस मरे हुए व्यक्ति के आत्मीय स्वजनों की तरह अर्थी के साथ-साथ मुँह पर तौलिया या गमछा डाले हुए वे भी जोर-जोर से रोते चलते हैं । मुंह की आवाज के अन्यथा उनकी देह पर वेदना या दुख का अंश मात्र भी नहीं होता—न उनकी आँखों में आँसू होते हैं और न हृदय में दुख की अनुभूति ! बहुत सारे व्यक्ति उन गमछों के भीतर मुँह छिपाये हुए हँसते भी रहते हैं—पर साथ में सारे गले का जोर लगाकर रुदन की ध्वनि में भी वे खूब आगे रहते हैं । पर उन गमछों के भीतर वास्तविक सच्चाई है एक मात्र उनके अधरों पर की हँसी—गले का वह रुदन नहीं ।

इसी तरह इन अक्षरों की ओट में पंत जी के पतले होंठों की हँसी ही का हमें आभास मिलता है—लोक दिखावे के लिये बापू का नाम लेकर रोना—केवल एक कृत्रिम अभिनय और ढोंग के अन्यथा कुछ भी नहीं ।

पहिली दृष्टि में यों पढ़ने के लिये तो ये पंक्तियाँ कुछ अधिक बुरी नहीं हैं, पर जब यह मालूम होने पर कि ये शब्द मृत बापू को लक्ष्य करके लिखे गये हैं तब इन शब्दों के दुर्भाग्य पर अवश्य तरस आता है।

केवल बापू ही के लिये नहीं, पंत जी ने पहिले भी कई बार चेतना को मानस-रूपी लहरों पर इसी तरह हँसाया है, उनके लिये यह कोई नई बात नहीं—और न हमारे लिये भी यह कोई नई उपमा ही है!

*

बापू की **चेतना** बने पिक का नव कूजन,
बापू की **चेतना** वसंत बिखेरे नूतन!

कोयल का मधुर स्वर और पपीहे की मधुर पी-पी की ध्वनि और बापू के सीने पर लगी हुई पिस्तोल की गोलियों की भयावह आवाज में, पंत जी के कान कोई भी विभेद नहीं खोज पाते। इनके हृदय में एक सी प्रतिक्रिया होती है।

ऐसा नहीं लगता कि इन पंक्तियों में और बापू के व्यक्तित्व में पूर्ण सामंजस्य हो। क्या दुनिया के और किसी भी व्यक्ति पर ठीक ये ही पंक्तियाँ लागू नहीं हो सकतीं? बापू के अन्यथा और किसी भी व्यक्ति की चेतना को भी यह बात सहज ही में कही जा सकती है कि वह कोयल का सुमधुर स्वर बने; और उसकी चेतना पतझड़ के नये वसंत का संचार करे। यह तो एक ऐसी उपमा है—जो बापू के लिये भी लागू हो सकती है और रमज़ान धोबी के लिये भी!

रामू की चेतना बने पिक का नव कूजन,
रामू की चेतना वसंत बिखेरे नूतन।

यदि रमज़ान धोबी के साथ बापू जैसी महान् आत्मा की तुलना उनके भक्तों को अखरे तो उनकी भावना का सम्मान करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू को आगे किया जा सकता है। यदि इन पंक्तियों से बापू शब्द को हटाकर नेहरू शब्द जोड़ दिया जाय तो सिवाय मात्रा की वृद्धि के इसमें ऐसा क्या अन्तर आ पड़ेगा—जिससे पंत जी यह बतला सकें कि इन कारणों की वजह से ये पंक्तियाँ नेहरूजी के व्यक्तित्व पर घटित नहीं हो सकतीं।

नेहरू की चेतना वने पिक का नव कूजन,
नेहरू की चेतना वसंत विखेरे नूतन !

समझ नहीं पड़ता कि वापू की चेतना को किस कारण विशेष से बाधित होकर यह कोयल के नव स्वर की उपमा दी गई—वापू के व्यक्तित्व और इस उपमा में कुछ न कुछ पारस्परिक समझौता तो होना ही चाहिये।

जिस तरह छाया कविता में इन्होंने अपनी कल्पना के अनर्गल प्रलाप के द्वारा न जाने क्या-क्या निरर्थक उपमाएँ दे डाली थीं—उतरे हुए वस्त्र के समान, व्रज की गोपियों के समान, रति से पीड़ित नायिका के समान, और भी न जाने किन-किन उपादानों के द्वारा छाया का सादृश्य वाँधा गया—कुछ भी समझ में नहीं आता। परोक्ष, अपरोक्ष रूप से किसी भी प्रकार की कोई समानता नहीं, जो जी में आया, उसको लय के साथ कविता के रूप में कस कर पकड़ लिया गया—और वह कोमल और रहस्यमयी कविता वन गई—जिसके रहस्य की खोज स्कूल के अध्यापक व कॉलेज के प्रोफेसर आज दिन भी नहीं कर पाये हैं, इसी कारण वे 'छाया' कविता को रहस्यवाद की श्रेष्ठतम कविता वतलाते आ रहे हैं—और वतलाते ही जायेंगे, क्योंकि इससे उनकी नासमझी का रहस्य भी गोपनीय रह जाता है !

उसी छाया को साइकिल के फ्रेम-सी, मोटर के हॉर्न-सी, वैलगाड़ी के पहिये-सी, पहलवान की लंगोट-सी आदि उपमाओं से क्यों वंचित किया गया—क्या इसका भी उनके पास कुछ उत्तर है ?

*

हाय, हिमालय ही पल में हो गया तिरोहित,
ज्योतिर्मय जल से जन धरणी को कर प्लावित !
हाँ, हिमाद्रि ही तो उठ गया धरा से निश्चित,
रजत वाष्प-सा अंतर्नभ में हो अंतर्हित !

जब अनुभूति की गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म पकड़ का सर्वथा दिवाला निकल जाता है, तव कहीं इधर-उधर की निराधार वड़ी-वड़ी उपमाओं का सहारा लिया जाता है—जैसे वसुंधरा सिहर उठी, पत्थरों की छाती पिघल गई, आकाश

जमीन पर बिखर पड़ा, सूर्य और चन्द्रमा काले पड़ गये, फूलों की मुस्कानें उदास पड़ गईं—आदि ।

जब कहीं लिखने को कुछ भी नहीं मिलता, तब बड़ी आसानी से सहज ही में ये बातें लिख दी जाती हैं, इन उपमाओं के भारीपन के नीचे कवि का मानसिक खोखलापन प्राय: दब सा जाता है, और कवि मन में पूर्णतया आत्म-संतुष्टि प्राप्त कर लेता है कि मैंने अपने कर्तव्य को यथोचित समाप्त कर दिया ।

हो सकता है कि बापू की मृत्यु के दुखद समाचार को सुनते ही पंत जी एक दम से बेहोश हो गये हों, और उन्हें तीन दिन तक होश ही नहीं आया, और अपनी उसी बेहोशी की अवस्था में उन्होंने हिमालय को जमीन में धंसते देख लिया हो, समुद्र के पानी को उफनते देख लिया हो, भारतवर्ष की सभी नदियों को बापू के वियोग में क्रंदन करते सुन लिया हो,सभी पशु पक्षियों को उनके विछोह में कराहते सुन लिया हो, पर बापू पर लिखी हुई इन कविताओं को पढ़कर यदि कोई निष्कर्ष निकालना चाहे, तो इसके अन्यथा और कुछ भी दूसरी बात सोची ही नहीं जा सकती कि बापू की इस आकस्मिक हत्या ने पंत जी के हृदय पर रंच-मात्र भी आघात नहीं किया । ये कविताएँ स्वयं पंत जी के हृदय को छूती हुई नहीं निकलीं, इसलिये पढ़ने वालों के दिल को भी छू सकना इनके वश और सामर्थ्य की बात नहीं है । केवल इतना ही नहीं बापू की मृत्यु ने इन्हें कविता लिखने की किंचित् भी प्रेरणा नहीं दी । बेगार करने वाला जिस तरह बेमन से काम करता है, उसी प्रकार अपने मन और अपने संवेगों के परे ही पंत जी ने यह अकारथ मेहनत की है । प्रेरणा की बाध्यता से लिखी गई कविता इस तरह सूखी और अटपटी नहीं होती ।

*

रहा दूसरा पहलू बुद्धि और विचारों का, सो पंत जी न गांधी के प्रति सच्चे हैं और न गांधी वाद के । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी विशेष विचार-धारा के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिये यदि कविता गौण रूप में भी सामने आ जाय तो भी वह मान्य है । उस समय कविता की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता, पर उसमें विनिहित विचार-धारा ही को बहुत कुछ प्रधानता दी जाती है । और यदि दोनों ही बातें सफलता के साथ निभा दी जांय तो और भी अच्छा है ।

हमें भी तव कोई शिकायत नहीं रहती—जव यह साफ मालूम हो जाता कि पंत जी ने अपने प्रति ईमानदारी और सच्चाई के साथ, गाँधीवाद को जनता के हाथों पहुँचाने के लिये अपनी कविताओं को एक नगण्य साधन मात्र ही चुना है, इसलिये उन्होंने जानकर ही सीधी-साधी और साधारण कोटि की कविताएँ बनाई हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से मतभेद होने पर भी उनकी ईमानदारी में संशय करने की तव कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

पर ये कविताएँ न तो गांधी वाद की ओर ही संकेत करती हैं और न लक्ष्य, अलक्ष्य रूप में वापूजी के व्यक्तित्व ही को चित्रित करने का इनमें वह प्रयास ही मिलता है।

*

आज की इस दुनियाँ में एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए, जो वहुत अच्छा पढ़ा-लिखा तो है ही, पर साथ में वह साहित्य, और विशेप रूप से कविता के प्रति वहुत रुचि रखता है। केवल ज्योति ही नहीं, सौंदर्यानुभूति की सूक्ष्म पकड़ भी उसकी आँखों में है। लेकिन वह गाँधी जी के जीवन से निरा अनभिज्ञ है—वह उनका नाम तक भी नहीं जानता कि वे किस काल में और किस देश में पैदा हुए थे।

यदि उसको ये पन्द्रह कविताएं पढ़ने को दे दी जाँय, तो क्या इस गाँधी नाम के व्यक्ति को वह इन कविताओं के माध्यम द्वारा अपने हृदय की न्यूनतम श्रद्धा का शतांश भी सौंप सकेगा? एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है कि जो वापू के महत् जीवन का समर्थन करती हो। और जिन व्यक्तियों को वापू के प्रति तनिक सी श्रद्धा है, उसमें भी, इन कविताओं को पढ़कर, कुछ न कुछ घटने ही की संभावना है—वढ़ने की नहीं। वापू के अंधभक्तों को भी समझ नहीं पड़ेगा कि ये कविताएँ किस कारण और किस उद्देश्य-विशेप से लिखी गई हैं। उनकी अंधभक्ति भी इन कविताओं में कुछ न कुछ टटोलने का निष्फल प्रयास करने के वाद अंत में यह प्रश्न किये विना किसी भी तरह नहीं रहेगी कि आखिर यह सव क्यों और किसलिये?

वापू के महान जीवन के प्रति यदि ये कविताएँ, श्रद्धांजलियों के रूप में हैं—तो ये एक दम से निकृष्ट कोटि की श्रद्धांजलियां हैं—जिन्हें पढ़कर उस व्यक्तित्व के प्रति अश्रद्धा ही प्रदर्शित होगी। और न इनमें वापू के जीवन ही का चित्रण है—

और न अहिंसा या गांधीवाद का ज्ञात्-अज्ञात् पोषण । वास्तव में यह है—उनके जीवन की विकृति ! गांधी वाद का उपहास ! ! और एक क्षुद्रतम घृणित व्यवसाय ! ! !

और न ये कविताएं मरसियों की श्रेणी में ही आती हैं, जो एक मृत व्यक्ति को ही लक्ष्य करके लिखे जाते हैं ! पर उसकी भी एक सीमित परिधि होती है—हर मरे हुए व्यक्ति पर लिखी हुई कविता मरसिया नहीं होती । जिस व्यक्ति से घनिष्ट मित्रता हो, या कोई निकट संपर्क हो, यदि दुर्भाग्य से वह मर जाता है, और सौभाग्य से उसका एक जीवित मित्र कवि भी है, उसके द्वारा उस मृत व्यक्ति को लक्ष्य करके लिखी गई कविता मरसिया कहलाती है ।

श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से पंत जी ने संभव है, बापू के आठ-दस बार दर्शन भी कर लिये हों, तो इससे वे उनके मित्र होने का दावा तो किसी भी तरह नहीं कर सकते । और न यह अनिवार्य ही है कि वह मृत व्यक्ति जिस पर मरसिये लिखे जा रहे हैं-वह एक प्रसिद्ध ख्यातनामा महापुरुष ही हो । बल्कि सही बात तो यह है कि बहुत बड़े प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्ति की मृत्यु पर जो कविता लिखी जावे, चाहे लिखने वाला उसका घनिष्ठ मित्र ही क्यों न हो, वह कविता भी विशुद्ध रूप में मरसिया नहीं भी कहलाती ।

चाहे बापू हों, चाहे सर प्रतापसिंह या महाराजा मानसिंह, सच बात तो यह है कि न इनका जीवन ही कविता का विषय है और न इनकी मृत्यु ! संसार की कोई भी महान् से महान् इकाई क्यों न हो, वह कविता का विषय तो किसी भी तरह नहीं बन सकती । और यों किसी के लिखने पर कोई बंधन या नियंत्रण थोड़े ही है—लेखनी पकड़ने कौन बैठा है ?

ज्यादा ही हुआ तो उनके महान् जीवन का विवेचनात्मक चित्रण गद्य में कर दिया जाय । यों ईमानदारी की बात तो यह है कि उनके कार्यों की निष्पक्ष रूप से भरपूर आलोचना की जाय; जीवन के प्रति, उनके दार्शनिक दृष्टिकोण की विवेचना की जाय ! यही तो होगा, उनके जीवन का वास्तविक मूल्यांकन ।

पर श्रद्धांजलि के बहाने चाहे बापू को लक्ष्य करके लिखी गई—सूत की माला हो, चाहे खादी के फूल—या सर प्रतापसिंह के जीवन पर लिखी गई प्रताप सतसई हो, इसमें ऐसा कुछ भी विशेष अंतर नहीं—अपने-अपने मानने की बात है, अपनी व्यक्तिगत श्रद्धा का प्रश्न है यह । बिना किसी व्यतिक्रम के इसको सामंतवाद की दास प्रवृत्ति के अन्यथा और कुछ भी कहकर नहीं पुकारा जा सकता । शिवा बावनी,

प्रताप चरित्र, जसवंत जस जलद, अरविंद दर्शन, रक्त चंदन, सूत की माला और खादी के फूल ये सब एक ही वृक्ष के पत्ते हैं।

समझ नहीं पड़ता कि पुराने कवियों की, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति स्तुत्य भावना को आज का आलोचक किस आधार पर बुरा-भला कहता है, पर जब कि आज के नवीनतम हिन्दी कवि भी किसी व्यक्ति विशेष की वंदना या स्तुति करते हैं—और वह भी निम्नतम कोटि की, और इन वर्तमान कवियों के प्रति उन्हीं आलोचकों की यह गाढ़ी उदासीनता किस कारण को लेकर है—वह भी समझ नहीं पड़ता—साहस की कमी या समझ की कमी! दोनों में से एक बात को स्वीकार किये बिना आसानी से छुटकारा भी नहीं पाया जा सकता।

यदि पंत जी को अपनी बुद्धि और अपनी मौलिकता पर कुछ भी विश्वास था तो वे अहिंसा और गाँधी वाद पर अलग से अपना दृष्टिकोण सामने रखकर उसकी स्थिरता व उपयोगिता का अनुमान लगाते। यह सब कुछ तो किया नहीं—और जो किया, उसको भी यदि रोक रखते तो वह एक सराहनीय कार्य होता। सरकार की ओर से किसी भी नियम की ऐसी बाध्यता तो थी नहीं कि उन्हें बापू के बारे में कुछ न कुछ लिखना ही पड़ेगा।

न जाने क्या सोचकर अपनी चेतना को आग लगा कर वे बापू के व्यक्तित्व की चेतना की थाह लगाने के लिये कविता के पंखों पर सवार होकर आकाश में उड़ चले। नतीजा कुछ भी हाथ नहीं लग पाया।

लेकिन मुझे तो इसमें भी संदेह है कि पंत जी और किसी के प्रति तो नहीं पर कम से कम अपने तईं तो सच्चे हैं ही। साफ मालूम पड़ता है कि इन कविताओं की प्रेरणा उन्हें बापू के व्यक्तित्व से तो किसी भी तरह नहीं मिली। और न इन्होंने अर्थ या धन की बाधिता से विवश होकर यह काम किया। इनकी ये कवितायें मजबूरियों की भी देन नहीं। तब केवल एक ही पहलू शेष रह जाता है—वह है धन के प्रति खिचाव; अर्थ—लोलुपता। गाय और गीता की शपथ खाने पर भी मैं तो यह विश्वास करने को तैयार नहीं कि इन कविताओं का प्रेरणा-श्रोत "पैसा" नहीं है।

बापू के नाम पर, राष्ट्र-पिता के नाम पर, उसकी सर्वप्रियता का अनधिकार लाभ उठाने की कुचेष्टा, गाँधी वाद पर तो नहीं, पर कम से कम गाँधीजी के ऊपर तो प्रहार है ही। उनके नाम की ओट में जनता के शोषण की दुष्प्रवृत्ति न खादी

के फूलों के बहाने दब सकती है और न सूत की मालाएं पहिनाने से !

*

चिरगाँव जिला झांसी के निवासी श्री मैथिलीशरण गुप्त की दो पंक्तियाँ सहसा याद आ गईः—

राम तुम्हारा चित्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है ।

सस्ती नाम वारी के लिये यह एक अच्छा नुश्का है कि किसी बहुत बड़े व्यक्ति का नाम देकर कुछ न कुछ लिख मारा जाय—चाहे कविता हो या जीवनी । पाठकों की सबसे पहिली दृष्टि लेखक पर नहीं; उस व्यक्ति पर जाती है, जिस पर कविता लिखी गई हो । उसी के नाम पर पहिला संस्करण तो निकल ही जाता है। यदि विषय के साथ-साथ लेखक में भी कुछ विशेषता हुई, तो दोनों के सहारे वह पुस्तक बहुत अच्छी तरह चल निकल सकती है, और यदि लेखक में अपना कुछ भी बल नहीं हुआ तो कुछ समय के बाद वह कृत्ति मर भी जाती है ।

सो गुप्तजी की इन पंक्तियों से मैं केवल इतना ही सहमत हूँ कि आरंभ में, साधारण कोटि के कवि को, महान् व्यक्तित्व, लिखने का बल देता है—लिखने की ओर प्रवृत्त करता है—बस इतना ही ।

गांधीजी ने पिछले कई सालों से हिंदुस्तान में अपना अच्छा खासा बाजार बना ही लिया था, और पंत जी भी न जाने कैसे इस प्रचार के युग में, कोमलकांत पदावली के सुमधुर कवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे! और इस बीच में हो गई बापू की मृत्यु—फिर क्या कहना ? दुहरे लाभ की आशा क्या नहीं करवा लेती ? सो बापू के नाम की तह में मूल प्रेरणा घूम-फिर कर केवल अर्थ ही की दिखाई देती है—जभी तो बापू का व्यक्तित्व इस कवि के हाथों एक भी सुंदर पंक्ति लिखवाने में पूर्ण रूप से असमर्थ रहा ।

वृक्ष की श्यामल छाया में जहां इस कवि का हृदय एक दम से बेकल हो उठा था, और जैसा कि हाईस्कूल के अध्यापक और कॉलेज के प्रोफेसर वर्षों से एक परम्परा को निवाहते हुए लड़कों के मस्तिष्क में यह ठूंसते चले आ रहे हैं कि 'छाया'

कविता एक अतुलनीय प्रयास है–इसमें कल्पना की वो-वो उड़ानें हैं कि वस कहते नहीं वनता। मान लेता हूँ कि उनका यह कथन सवा सोलह आने सही है, पर इन पन्द्रह कविताओं की प्रशंसा के लिये तो शायद अपने ऊपर के अधिकारियों की आज्ञा पाकर भी वे कुछ नहीं कह सकेंगे।

वापू के शव से कहीं अधिक उन्हें छाया का कालापन प्रेरणा देने में समर्थ रहा। न वापू की चिता के ज्वलित लाल-लाल अंगारे उनको इतनी प्रेरणा दे सके–और न उस चिता की काली राख ही! तव यदि वापू की महानता में भी कोई शंका करे तो उसको एकदम से अमान्य नहीं किया जा सकता।

शेष सभी वातों को छोड़कर भी केवल अभिव्यंजना ही को थोड़ी देर के लिये काव्य को परखने की एक मात्र कसौटी मान ली जाय तव भी निस्संदेह छाया कविता वापू की इन सभी कविताओं से तो वढ़कर है ही। कवि तो वह एक ही है, पर उसके हाथों वापू के प्रति एक भी पंक्ति उस कोटि की नहीं लिखी जा सकी।

कौन कौन तुम दमयंती सी,
　　तरु के नीचे हो सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या,
　　अलि नल सा निष्ठुर कोई!

इन पंक्तियों की कुछ भी अन्य विवेचना न करके मान लिया जाता है कि 'छाया' कविता में इनसे अच्छी कोई भी पंक्ति नहीं है, पर इन पंद्रह कविताओं में तो, एक साथ की वात तो दूर, अलग-अलग से भी कुल मिलाकर ऐसी चार पंक्तियों का अनुसंधान नहीं किया जा सकता!

वापू के जीवन का 'वित्त' छाया के वित्त की तुलना में वहुत अधिक हेय ठहरता है–या तो इस वात को स्वीकार किया जाय, और या फिर इससे इन्कार होने पर पंत की सचाई और ईमानदारी में संशय की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। दोनों में से एक वात तो माननी ही पड़ेगी।

*

आत्मा का वह शिखर, चेतना के लय क्षण में,
व्याप्त हो गया सूक्ष्म चाँदनी सा जन मन में।
खादी के उज्वल जीवन सौंदर्य पर सरल,
भावी के सतरंग सपने कँप उठते झलमल।

बरबस हँसी आ जाने पर भी न मालूम क्यों इन कविताओं को कोई हास्य-रस की रचनाओं के अंतर्गत मानने को तैयार नहीं हो पाता ?

ऐसा नहीं लगता कि किसी मृत आदमी के विछोह की पीड़ा इन पंक्तियों में व्याप्त है ! सूक्ष्म चाँदनी की व्याप्ति को प्रयोग करने का गांधीजी की मृत्यु के अन्यथा और कौनसा सुअवसर प्राप्त होता ? पंत जी को जैसे-तैसे भी हो सूक्ष्म चाँदनी की किसी से उपमा देनी थी—सौभाग्यवश बापू ही हाथ लग गये—उन्हीं पर सही। लाख समझाने पर भी यह समझ नहीं पड़ता कि चाँदनी, नहीं-नहीं केवल सूक्ष्म चाँदनी जन-मन में क्यों कर और किस तरह व्याप्त होती है ? फूलों की सौरभ, सूरज का प्रकाश और पानी की तरलता क्यों इसी के समान व्याप्त नहीं होती और आत्मा के उस शिखर व चाँदनी के व्याप्त होने में कौनसा सादृश्य है ? यदि पंत जी की इन निरर्थक उपमाओं को चुनौती नहीं दी जा सकती, तो शायद उन्हें ये उपमाएँ भी मान्य होनी चाहिये कि अमुक नायिका के दाँत कठोपनिषद की तरह हैं, उसकी केशराशि स्मृति-पुराण के समान और उसके यौवन का उभार सामवेद की तरह !

हो सकता है कि बिना किसी मतलब से दी गई इन उपमाओं का 'भारतीय विद्वान' क्या क्या मतलब निकाल बैठें। क्योंकि कवि का काम तो केवल कविता भर करना है, उसमें से रस खींच लाने का अधिकार तो पंडित जनों ही को है।

हाँ तो—'सौंदर्य' शब्द के प्रयोग की विवशता के कारण 'खादी के उज्वल जीवन' की स्थापना करना एक तरह से अनिवार्य ही हो गया और दूसरे ही क्षण 'सपनों' के पहिले 'भावी' और 'सतरंग' शब्द पंत जी की चेतना में झट से आ गये, तब 'झलमल' रूप में उनका कँपाना तो एक सहज सी बात हो गई।

सपनों का झलमल कँपना कैसा होता है—यह बात तो मैं आज दिन तक हजारों सपने देखकर भी नहीं जान पाया !

'झलमल' शब्द का प्रयोग न करना पंत जी के सामर्थ्य और वश की बात नहीं थी। इनकी समदर्शी आँखें टिमटिमाते सितारों की आभा में ही क्या, बापू की पथराई हुई पुतलियों की ज्योतिहीनता में भी 'झिलमिलाहट' की झाँकी देख सकती हैं। सिद्ध है कि शब्दों की माया का अटूट बंधन पंत जी की सहज भावना और बुद्धि पर किस तरह हावी होकर उन्हें अपना दास बना लेता है! क्या कोमल-कांत पदावली के मधुर कवि की यही विशेषता है ?

ग्रीक की एक कहावत है कि औरतों की अकल छोटी क्यों होती है—इसलिये कि उनके बाल लंबे होते हैं। प्रत्येक औरत की लंबी चोटी को देखकर तो मुझे इस कहावत का स्मरण नहीं भी हो पाता, पर जब कभी किसी तस्वीर, में पंत जी को देखता हूँ—तो सबसे पहिले मेरी दृष्टि उनके लंबे बालों ही पर जाती है, और इसके साथ ही वह ग्रीक कहावत केवल याद ही नहीं आती , बल्कि उसकी सत्यता का हाथों हाथ प्रमाण भी मिल जाता है।

लुप्त हो गया, लोक चेतना के क्षत पट पर.

*

बरस रहा अब नव्य चेतना में हिम उज्वल.

*

लहराता नित रहा चेतना का चिर यौवन.

*

नव्य चेतना के सपनों से विस्मित लोचन.

*

नव्य चेतना मंडित, स्वर्णिम उठे हैं निखर.

*

नव युग के चेतना ज्वार में कर अवगाहन.

*

मनोमय कर रहा चेतना का नव जीवन ग्रंथित.

*

विश्व चेतना सागर को कर रंग ज्वार स्मित.

*

नव संस्कृति की चेतना शिला का न्यास हुआ भू मन में.

सरसरे तौर पर मेरी कमज़ोर आंखें, 'चेतना' शब्द के इतने ही प्रयोगों को खोज पाई हैं। पर ये भी आवश्यकता से कुछ अधिक ही हैं—कम नहीं।

रहस्यवाद के इस प्रतिनिधि कवि के अंतंजगत के चारों ओर लगे कपाटों के भीतर जो पोल छिपी हुई है—उसका रहस्य जानने के लिये, इन पंक्तियों के

उदाहरण क्या उसकी कुंजी नहीं है ? इस कुंजी के द्वारा इन कपाटों को खोलने के पश्चात् न तो कवि की अंतर्दृष्टि ही छिपी रहती है, और न उसकी कला ही।

पाश्चात्य देश के किसी भी मनोवैज्ञानिक को यदि पंत जी की ये कविताएँ पढ़ाई जाँय तो वह निश्चित रूप से इस 'चेतना' शब्द के आधिक्य के सहारे यह बतला देगा कि बचपन की किस भूल के कारण उलझी हुई 'भावना ग्रंथि' का यह अनिवार्य परिणाम है। उस भूल की चेतना को विस्मृत करने के प्रयास ने, कवि का अटपटा रूप धारण कर लिया, और पंत जी लोगों की दृष्टि में रहस्यवाद के कवि बन गये।

'चेतना' शब्द का यह अनर्गल प्रलाप निस्संदेह, निसंशय रूप से किसी रहस्य भरे गोपनीय कर्म की ओर संकेत करता है—और जिसकी जानकारी को केवल पंत जी तक ही सीमित रखना उचित है।

चेतना शब्द का प्रयोग करने के लिये ज्यों जी में आया, तुकों का मिलान करके रख दिया गया। आज के इस प्रजातांत्रिक युग में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विस्तार की सीमा इससे अधिक और क्या हो सकती है ? और पंत जी की इस स्वतंत्रता पर कौन नियंत्रण रखने का साहस कर सकता है ?

*

उसका जीवन मुक्त रहस्य कला का प्रांगण,
उसका निश्चल हास्य स्वर्ग का था वातायन।

पंत जी की डायरी में लिखे हुए कोमल शब्दों की सूचि का जब उनके हाथों कविता के रूप में प्रयोग किया जाता है—तब वह दो ग्रामीण पंजाबियों की बात-चीत से भी कहीं सौ गुना अधिक कानों को खटकता है। हिन्दी के आदि कवि चंदर बरदाई के द्वारा लिखे गये पृथ्वीराज रासो के शब्द कठोर होने पर भी बेमतलब नहीं हैं, पर पंत जी की कविताओं के कोमलतम शब्द अपने आप में तो अलग से कोमल होने पर भी उनके हाथों प्रयोग में आने पर इतने कठोर हो जाते हैं कि जिनका आघात मस्तिष्क के स्नायुओं को झकझोर डालता है। निरर्थक दुरुपयोग की अपव्ययता ही उन्हें इतना कठोर बना देती है !

मुक्त, रहस्य, कला, प्रांगण, निश्छल, हास्य, स्वर्ग और वातायन आदि इन सब शब्दों का अर्थ अच्छी तरह से जानने पर भी इन दोनों पंक्तियों का न भावार्थ ही समझ में आता है और न शब्दार्थ ही। किस तरह बापू के मुक्त जीवन को रहस्य-कला का प्रांगण माना गया और धरती पर निवास करनेवाले बुड्ढे के निश्छल हास्य को स्वर्ग के वातायन से उपमा दी गई ?

बापू पर लिखी हुई इन पंक्तियों को यदि मैं अपने जीवन पर लागू करना चाहूँ तो शायद बापू का महान् व्यक्तित्व इसमें तनिक सी भी बाधा उपस्थित नहीं करेगा। कोई भी यह नहीं कह सकता कि मेरे लिये ये पंक्तियाँ लागू नहीं हो सकतीं।

मेरा जीवन मुक्त रहस्य कला का प्रांगण,
मेरा निश्छल हास्य स्वर्ग का है वातायन !

बापू की सर्वव्यापी मृत आत्मा भी यह नहीं जान सकती कि बापू को लक्ष्य करके लिखी गई इन पंक्तियों को मैंने अपने तुच्छ से जीवन पर घटित कर लिया है !

क्या पंत जी ने कविता को एक ऐसी टोपी समझ लिया है—जो दुनियाँ के किसी भी व्यक्ति के सिर पर पहनाई जा सकती है। तीन महीने का बच्चा हो चाहे चौबीस साल का भरपूर युवक—दोनों के सिर पर वह रबर की टोपी उनके सिरों के अनुरूप अपना छोटा-बड़ा आकार लेकर शोभित होती रहेगी।

इस विज्ञान के युग में साँस लेने वाले इस रहस्यवादी कवि की आँखों ने किस यंत्र के सहारे स्वर्ग के वातायन को देख लिया—सो वे ही जानें ! 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' इस उक्ति के फैलाव की सीमा का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है—पंत जी की कविताओं को पढ़ने के पहिले इस बात की कल्पना तक करना संभव नहीं था। वास्तव में पंत जी ने स्वर्ग के वातायन जैसी-जैसी कई जगहों पर पहुँच कर बतला दिया कि जहाँ सूरज के प्रकाश की पहुँच भी असंभव है।

●

सूर्य किरण सतरंगों का श्री करती वर्पण,
सौ रंगों का सम्मोहन कर गये तुम सृजन,-

रत्नच्छाया सा रहस्य शोभा से गुंफित
स्वर्गोन्मुख, सौंदर्य प्रेम आनंद से श्वसित !

स्वप्नों का चंद्रातप तुम बुन गये कलाधर
विहँस कल्पना नभ में, **भाव जलद** पर रँग कर.
रहस प्रेरणा की **तारक ज्वाला** से स्पंदित
विश्व चेतना सागर को कर रँग ज्वार स्मित।
प्राण शक्ति के तड़ित मेघ से मेरु भर स्तनित,
जन भू को कर गये **अग्नि बीजों** से गर्भित,
तुम अखंड रस पावस का **जीवन प्लावन** भर
जगती का कर **अजर** हृदय **यौवन** से **उर्वर** !

आज **स्वप्न पथ** से आते तुम मौन धर चरण
बापू के गुरुदेव, देखने राष्ट्र जागरण !

रत्नच्छाया-सा, स्वर्गोन्मुख सौन्दर्य प्रेम, स्वप्नों का चंद्रातप, चेतना सागर, जन भू, अग्नि बीज, जीवन प्लावन, हृदय यौवन से उर्वर, स्वप्न पथ आदि-आदि शब्द और उपमाओं की मालाएँ पंत जी ने न मालूम एक साथ कब से तैयार कर रखी हैं, कि बस वे हर किसी के गले में पहिनाने के काम आ जाती हैं। बापू आयें तो यही माला, उनके गुरुदेव आवें तो यही माला, पंडितजी आवें तो वही और जिस शिष्य के द्वारा बापू की हत्या की गई, उसके गुरु गोलवालकर भी आवें तो यही माला उनके गले में भी डाल दी जायेगी—बिना किसी व्यक्तिक्रम और विभेद के।

इस कविता को अंत तक पढ़ने से यही सोचना स्वाभाविक है कि यह बापू को ही लक्ष्य करके लिखी होनी चाहिये, क्योंकि इन खादी के फ़ूलों को वरण करने का अधिकार केवल बापू ही को तो होना चाहिये। पर अंतिम पंक्ति के आरंभ में तो सारी बात ही उलट दी गई। अरे—यह कविता बापू पर नहीं उनके गुरुदेव पर है—मतलब कि रवि बाबू पर है। बहुत ज़ोर की हँसी आई और वह काफी देर तक भी नहीं रुक सकी। मानना पड़ा कि पंत जी वास्तव में रहस्य-वाद के सफल कवि हैं। शुरू से अंत तक क्या रहस्य को गोपनीय रखा गया है—उसके पहिले कहीं भी मालूम नहीं पड़ता कि यह कविता किसके बारे में है ?

अब सबके सोचने की बात है कि यदि अंतिम पंक्ति में गुरुदेव को हटाकर उनके शिष्य बापू ही का नाम हो—तो इसमें क्या अंतर आ जायेगा ? देखना है कि बापू का नाम यहाँ जुड़ेगा या नहीं । यदि अंतिम पंक्ति को इस तरह बदल दिया जाय तो क्या बुरा है ?

आज स्वप्न पथ से आते तुम मौन भर चरण,
बापू के चैतन्य, देखने राष्ट्र जागरण !

पंत जी के परम प्रिय शब्द चेतना ही से बना हुआ है—यह चैतन्य शब्द भी, सो उन्हें यह तो मान्य होना ही चाहिये ।

इसे कहते हैं—हाथ की सफाई और पेट का हुनर ! यह कविता नहीं—जादू है—जादू, जो सिर पर चढ़कर नहीं, पाँवों तले दब कर बोलता है ।

कवि के स्थान पर पंतजी को एक महान् जादूगर माना जाय—तो ज्यादा संगत होगा । अपनी जादू भरी पिटारी में गिनती के शब्द और गिनती की अनोखी-अनोखी उपमाओं द्वारा ये किस सफलतापूर्वक पाठकों को 'चेतना-शून्य' बना देते हैं कि बस क्या कहना ?

ठीक पंत जी ही के स्वभाव से मिलता-जुलता हमारे जोधपुर में एक आधा पागल-सा पंडित है—जिसका पेशा है—दिन भर सड़कों पर इधर-उधर फिरते रहना । छोटी सी कटोरी में वह घिसा हुआ चंदन रखता है, कुछ भी हो—उसका रंग तो अवश्य पीला-पीला सा है और वह स्वयं उसे चन्दन बतलाता है । जो भी सड़क पर मिलता है—सामने खड़े होकर तर्जनी अंगुली से ललाट पर ही टीकी लगा देता है—कहने पर तिलक की तीन रेखायें भी खींच देता है । इस तरह एक-एक पैसा करके वह सांझ तक अपनी जीविका लायक कुछ न कुछ पैदा कर ही लेता है । ब्राह्मण हो—चाहे धोबी किसी का ललाट भी उसके द्वारा टीकी लगवाने के लिये अमान्य नहीं है । और न उसके इस पीत वर्णी तरल पदार्थ में भी कुछ विभेद है—वही बर्तन , वही चन्दन और वही तर्जनी अंगुली !

इसी तरह पंतजी की पिटारी में भी कुछ गिने-चुने शब्द बंद रखे हुए हैं, जिस विषय पर कविता बनानी हुई—चाहे काला बादल हो—चाहे काला सर्प—चाहे काली छाया, बापू की लाश हो चाहे चाँदनी की 'सौम्य आभा' उसके भीतर से झट दोनों मुट्ठियाँ भर कर शब्द निकाल लिये जाते हैं—और वह कहलाती है कविता—मधुर कविता ! टीकी लगाने वाले उन ब्राह्मण से अधिक उन्हें मेहनत नहीं पड़ती ।

यदि इसी पिछली कविता को रवि बाबू से हटाकर बापू पर घटित करना हो तो सिवाय एक शब्द के और कुछ भी बदलने की आवश्यकता नहीं। यह कविता नहीं, कविता की संज्ञा का उपहास है!

*

इसी आलोचना लिखने के बीच में दुर्भाग्य से पंत जी की लिखी हुई 'स्वर्ण किरण' हाथ लग गई। सरसरी, उड़ती-उड़ती दृष्टि से उसकी सभी कविताओं को एक बारगी पढ़ डाला। एक बहुत काम की चीज़ पकड़ाई दे गई। पंत जी को तो शायद अरविंद के प्रत्यक्ष दर्शन पर इतना संतोष नहीं भी हुआ होगा, जितना मुझे उनकी यह, 'अरविंद दर्शन' कविता पढ़कर हुआ। मैंने अच्छी तरह से गणना कर के हिसाब लगाकर मिलान किया है कि गाँधीजी पर लिखी गई इन पन्द्रह कविताओं में एक भी शब्द ऐसा नहीं है—जो इसी एक 'अरविंद दर्शन' कविता में न हो। पंत जी को बहुत ही अधिक प्यार करनेवाला यह समझने की नादानी न करे कि क्या कोई भी एक शब्द दो या दो से अधिक कविताओं में नहीं आ सकता—क्या किसी एक शब्द का एक कविता में उपयोग होने के पश्चात् दूसरी कविता में उसका प्रयोग सर्वथा वर्जित है? पंत जी के सिवाय हिन्दी के किसी भी अन्य कवि में कम से कम यह दोष तो नहीं पाया जाता—और यह भी बात नहीं कि किसी भी कवि ने अपनी पहिले की कविताओं के शब्दों का नई कविताओं में रंच मात्र भी प्रयोग नहीं किया। फिर भी यह दोष अकेले पंत जी ही पर क्यों थोपा जाता है—और दूसरों पर क्यों नहीं यह एक सोचने-समझने की बात है। पंतजी के लिये शब्दों की रचना प्रधान है—और भाव गौण! हृदय के भाव और विचार को व्यक्त करने के लिये शब्द तो केवल एक सांकेतिक माध्यम मात्र है—पर पंतजी की कविताओं में ये ही शब्द उनका साध्य बन जाते हैं। बिना किसी भाव का बोझ लिये शब्दों का वह विचरण हमारी आँखों को खटकता है। शब्द के पीछे भाव बँधा हुआ हो तो उसकी पुनरुक्ति अखरती नहीं और न दोष ही गिना जाता है। पर पंत जी की कविताओं के शब्द कोरे शब्द मात्र ही हैं—भावों से सर्वथा शून्य। एक ही शब्द—यदि उसमें भावों की अनुभूति हो तो वह अलग-अलग से दो भावों को भी स्पष्टतया व्यक्त कर सकता है।

साफ और सीधी सी बात है कि किसी अपने इष्ट व्यक्ति के दर्शन करने पर स्वभावतः प्रसन्नता होती है—और अपने प्रिय व्यक्ति के निधन पर दुख—और विक्षोभ। पर 'अरविंद दर्शन' और गाँधीजी की मृत्यु पर लिखी हुई इन पन्द्रह

कविताओं में भावों की दृष्टि से कुछ भी अंतर नहीं—पाठकों के हृदय में एकसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। तथ्य की बात तो केवल इतनी ही है कि पंत जी की कविताओं में भाव नाम की संज्ञा का सर्वदा अभाव ही रहता है—इसलिये सब एक सी प्रतीत होती हैं। पुष्टि के लिये 'अरविंद-दर्शन' की सारी की सारी कविता के उद्धृत करने के दुख को भी मन मार कर सह लेना ही पड़ेगा!

अरविंद-दर्शन

ज्योति श्री अरविन्द चेतना के दिव्योत्पल,
पूर्ण सच्चिदानंद रूप शोभित स्वर्णोज्वल।
अति मानस में विकसित तुम आलोक हसित दल,
ओत-प्रोत जिसमें असीम आनन्द रजत जल!

स्तर पर स्तर कर पार, चेतना के योगेश्वर,
स्वर्णारुण से नव्योदित तुम चिदाकाश पर।
मानव से ईश्वर, ईश्वर से मानव बन कर
आए लौट धरा पर, ले नवजीवन का वर।

तुम भविष्य के दिव्यालोक देव अति जीवित,
मानव अंतर तुमसे उच्च अतल अति विस्मृत;
रुद्ध द्वार कर मुक्त हृदय के चिर तमसावृत,
अन्तर्जीवित सत्य कर दिया तुमने ज्योतित!

अधिमानस से भी ऊपर विज्ञान भूमि पर,
तुम आध्यात्म तत्व के हिमगिरि से स्थित निर्भर;
ज्योति मूर्त्त चेतना ज्वलित हिम राशि सी निखर,
मर्त्य स्वर्ग के पार उठाए सत्य के शिखर!

एक स्तम्भ उपनिषद्, ब्रह्म विद्या के निश्चय,
ज्योति स्तम्भ दूसरा देव का शब्द असंशय,

दिव्य चेतना सेतु उर्ध्व जिन पर **ज्योतिर्मय**।
आर पार भव जीवनाब्धि के **अति मानव** जय।

किया वेद वेदांगों का जब तुमने मंथन,
हुए प्रकाशित तत्व जगा मंत्रों में **जीवन**;
परम व्योम से तुम्हें, ऊर्ध्वचित ध्यान मग्न मन
विद्युत **लेखा** तुल्य ऋचाओं का हुआ स्फुरण !

स्वर्ण नील के मध्य **रजत** की **अनिल** में **सुधर**,
छोड़ दिव्य स्वप्नों की **रत्नच्छाया** भा स्वर;
स्वर्ग धरा पर लाने आए स्वयं तुम उतर,
जन मंगल हित पार्थिवता का भार वहन कर !

स्वर्ग और वसुधा का करने **स्वर्णिम** परिणय,
इन्द्रचाप का सेतु रच रहे तुम **ज्योतिर्मय**;
नृत्यशील **चिर हरित यौवना** भूपर छविमय;
चिर अनन्त की **अमर** वृतियाँ बो कर **अक्षय** !

अग्नि विहग से स्वर्ण शुभ्र तुम खोल **दिव्य पर**,
विचर **रजत निहार** शान्ति में दिशि पल के पर;
प्रसव व्यथित वसुधा हित लाए **अखिल** शोक हर,
रश्मि कलश में **दिव्य प्रीति** की **स्वर्ण सुधा** भर !

नील शकुनि तुम गाते देवों स्वदूतों हित,
चिदानन्द के **अग्निबीज** भू पर झरते **स्मित**;
देशकाल से परे कौन वह व्योम दुख **रहित**,
शाश्वत सुख का हर्ष जहाँ से लाते तुम नित !

कैसा वहाँ प्रकाश, शान्ति **आनंद चिरंतन**,
जहाँ **सच्चिदानंद** स्वयं करते सहज **सृजन**;

उठा सत्य निज आनन्द से हिरण्य अवगुण्ठन,
जहाँ सूक्ष्म सुन्दरता का सजती सम्मोहन!

छाया भा से रचित वहाँ क्या सप्त दल भुवनं,
काल दिशा को लिये अंक में करता नर्तन;
जहाँ स्वयं प्रभु रहते कैसा वह परम गगन,
जहाँ अनिर्वचनीय अमितं आनन्द का स्त्रवण!

गूढ़ तमस में जड़ में हों चित शक्ति तिरोहित,
अन्न प्राण मन में फिर कैसे हुई प्रस्फुटित;
कवि ऋषि तुमने सूक्ष्म दृष्टि से कर ज्यों चित्रित,
रहस शक्ति से निखिल सृष्टि फिर कर दी विवसित!

खोल अशेष रहस्य सृजन का तुमने गोपन,
दिया विश्व को नवजीवन विकास का दर्शन;
ज्योति चिन्ह जो छोड़ गए भू पर प्रबुद्ध जन,
सूचित उनसे अति मानव का पुण्य आगमन!

उर्ध्व चेतना का हो समदिक् मूर्त संचरण,
धरा स्वर्ग के ज्योति छत्र सा भेद दिव्य मन;
वहिरंतर जीवन का कर तुम देव उन्नयन,
दिव जीवन का धरती पर कर रहे अवतरण!

युग युग के पूजन आराधन जप तप साधन,
आज कृतार्थ अखिल आदर्श शास्त्र नव दर्शन;
मनुज जाति का सफल सकल जीवन संघर्षण,
पूर्ण आज प्रभु तुममें दिव्य देह धर नूतन!

जल जीवन में मच्छ, कच्छ तुम कर्दम में वन,
भू जड़त्व में शूकर वन चर में नृसिंह तन;

आदि मनुज वामन शूरों में राम परशुराम;
मर्यादामय राम, विश्वमय बने कृष्ण घन !

आज लोक संघर्षों से जब **मानव जर्जर,**
अति मानव बन तुम युग संभव हुए युगाधार,
अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग सँजोने आए सुन्दर !

छू पाते हैं **पंख कल्पना** के न **पद कमल,**
विकसित जो **अन्तर जल** में जाज्वल्यमान **ज्योतिदल;**
घेरे तुम्हें जननि का ज्योतिष्मत् **चिन्मण्डल,**
मुग्ध चमत्कृत चक्षुवाक् मन पा जाते फल !

दूत **दिव्य जीवन** के, **दिव्य** तुम्हारा दर्शन,
अति मानस का स्पर्श प्राण मन करता **चेतन;**
मानव उर प्रच्छन्न तुम्हारा नव पद्मासन,
तन मन प्राण हृदय ये तुमको देव समर्पण !

यदि शब्दों ही के एकत्रित संग्रह को काव्य माना जाय तो इस दृष्टिकोण से हिन्दी का सबसे बड़ा शब्द कोष सबसे बड़ा महाकाव्य है। लेकिन फिर भी वह न साहित्य है—और न साहित्य का छोटा अंग—काव्य है ! क्या कारण है कि समग्र शब्दों की इस संग्रहित पूंजी को काव्य—या साहित्य के अंतर्गत नहीं माना जाता—और पंत जी को इसी पूंजी के बल पर रहस्यवाद का सफल कवि माना जा रहा है ?

शब्द-कोष की अपनी उपयोगिता है—बहुत बड़ी उपयोगिता है। अच्छे शब्द-कोष के बिना अच्छे साहित्य की रचना नहीं हो सकती—यह सही है। क्या महादेवी वर्मा और क्या प्रसाद—इनकी रचनाओं का एक-एक शब्द, अपने-अपने स्थान पर शब्द-कोष में विद्यमान है—और वे केवल इसी कारण अच्छे कवियों की श्रेणी में आ सके कि उनके समक्ष एक अच्छे शब्द-संग्रह का संकलन हो चुका था। शब्द-कोष के शब्द केवल अपने अक्षरों की सीमित संख्या तक ही सीमित रह जाते

हैं—उनमें भावों के असीम विस्तार का समावेश नहीं होता । यदि उनको उपयोग में लाने वाले लेखक में अनुभूति की गहराई है—ज्ञान है—विवेक शक्ति है तो शब्द उसी के अनुरूप शक्तिशाली बन जायेंगे—उनको बन जाना पड़ेगा—और इसके साथ ठीक वे ही शब्द किसी खोखले हाथों द्वारा उपयोग में लाने पर उसी के अनुरूप खोखले—और निरर्थक होंगे । उपमा का सहारा लिया जाय तो कहना पड़ेगा कि शब्द तो केवल एक दर्पण मात्र हैं—जिस तरह लेखक की मानसिक बनावट होगी—ठीक वही प्रतिबिम्ब उसके भीतर प्रतिभासित हो उठेगा ।

जानता हूँ कि हिन्दी के पाठकों को यह स्वीकार करते हुए बड़ा दुख होगा कि पंतजी की रचनाएँ,न शब्दकोष के संक्षिप्त संस्करण के अंतर्गत ही आती हैं—और न साहित्य के किन्हीं अंग—प्रत्यंगों, में उनका समावेश किया जा सकता है । बहुत कुछ खींचातानी के बाद उनकी रचनाओं को शब्दकोष का बिगड़ा हुआ, अपूर्ण और अवैज्ञानिक रूप कहकर माना जा सकता है—क्योंकि कुछ निश्चित नहीं कि 'क' से आरम्भ होनेवाले अक्षर कहाँ और किस स्थान पर खोजे जा सकेंगे—और शब्दकोष के प्रति यह तो विश्वास बना ही रहता है कि 'अ' से आरंभ होनेवाले अक्षर अपने क्रमानुसार वहीं मिल जायेंगे—'म' और 'ट' के खानों में टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं । पंत जी की रचनाओं के शब्दजाल में यह सुविधा भी तो नहीं है !

शब्द कोष के प्रणेताओं ने न मालूम कितनी कठिनाइयों और न मालूम कितने समय के पश्चात् इसको संग्रहित करने में सफलता प्राप्त की होगी—परं पंत जी ने तो बहुत ही थोड़े समय में और बहुत ही आसानी से उसको बिखरा कर—विकृत कर दिया । चाहें तो इस कार्य को एक सराहनीय काम भी कहा जा सकता है । पर इसमें रहस्य और मधुरता क्या है—यह मेरी समझ के परे की बात है ।

आभा रेखाओं के उठते गृह, धाम, अट्ट नवयुग का तोरण
रूपहले परों की अप्सरियाँ करती, स्मित भाव सुमन वर्षण!
दिव्यात्मा पहुँची स्वर्ग लोक, कर काल अश्व पर आरोहण
अंतर्मन का चैतन्य जगत करता बापू का अभिनंदन !

पुराने साहित्यकारों ने भारतीय देवी-देवताओं के जिम्मे दो तीन काम सौंप रखे थे--फूलों की वर्षा करवाना, बाजे बजवाना, शंखनाद करवाना । बात-बात में देवता आकाश से पुष्प वर्षा किया करते थे । उनकी कृतियों पर आज के लोग आलोचना किया करते हैं कि यह कोरी एक मिथ्या कल्पना मात्र है--जिसकी आधार-शिला सत्य पर आधारित नहीं । पर आधुनिक युग के जीवित कवि पंत भी जब बापू के निधन पर रूपहले परों की अप्सराओं द्वारा भावों के सुमनों की वर्षा कराये बिना नहीं रहते तब उनके लम्बे बालों और जनाने स्वर पर तरस आता है--क्रोध नहीं ।

पुराने कवि भी अपने नायक को घोड़े पर सवार कर के स्वर्ग तक पहुँचा दिया करते थे--उसी परंपरा को पंत जी भी अपनी कविताओं में पकड़े हुए हैं--पर आज के वैज्ञानिक युग के अंकुश ने 'अश्व' के पहिले 'काल' शब्द लगाकर इनको अपनी निर्बलताएँ छिपाने के लिये साधन प्रदान कर दिया । आज के कुछ बुद्धि जीवियों में भी शायद वे ही परम्परागत कमजोरियाँ हैं--पर साथ में उनको छिपाने की योग्यता भी इनके पास है ।

क्या इन्हीं कविताओं के बल पर इन्होंने प्राक्कथन में यह लिखने का दुस्साहस किया था कि वे खादी के स्वच्छ परिधान के भीतर गाँधीवाद के संस्कृत हृदय को स्पंदित कर सकेंगे ?

*

उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता है कि धन्यकुमार जैन के अलावा, हिन्दी-साहित्य में शरत् बाबू की कृतियों के जितने भी अनुवाद उपलब्ध हैं--उनके अनुवादकों ने शरत् बाबू की हत्या ही की है ! इस तरह पाश्चात्य लेखकों की बहुत सारी हत्याओं के पाप का भार भी हिन्दी के कितने ही अनुवादकों पर है ।

जूलियस फूचिक की वह छोटी सी कृति 'नोट्स फ्रोम दी गैलोज़' को पढ़ा—एक बार पढ़ने के बाद उसे दस बार पढ़ना पड़ा। इसी के मोह वश उस किताब का अनुवाद 'फांसी के तख्ते से' भी खरीद कर पढ़ डाला, और मालूम हुआ कि एक और हत्या का खून हमारे हिसाब में बढ़ गया है। अंग्रेजी में वह किताब पढ़ी—बहुत अच्छी तरह से पढ़ी, बहुत छोटीसी किताब है—सौ पृष्ठों के लगभग और उस-पर एक दिन मैंने आलोचना करने का अनुमान लगाया तो वह पांच सौ पृष्ठों के भी परे पहुँच गया—इसी डर से उसकी आलोचना आरंभ ही नहीं की।

विश्वास था कि अंग्रेजी भाषा में किसी कृति का अनुवाद होने पर वह नष्ट नहीं हो पाती, पर 'अज्ञेय' के हाथों 'श्रीकांत' के पहिले भाग का अनुवाद अंग्रेजी में पढ़ा तो बहुत वर्षों से चलते आये विश्वास को एक क्षण भर में ही खंडित होना पड़ा। जानकारी की परिधि और भी विस्तृत हुई कि अंग्रेजी भाषा के अनुवाद में भी लेखक की हत्या संभव है।

सो हत्या शब्द की इसी परिभाषा के अंतर्गत पंत जी भी आ जाते हैं, जिनके विरोध में यह अपराध है कि उन्होंने बापू पर कविताएँ लिखकर उनकी हत्या की है। गोडसे से इनका अपराध ज्यादा भारी और घातक है।

बापू के नाम पर बापू के भक्तों से इस किताब की कीमत द्वारा अनुचित कर वसूल किया गया है—उनके नाम पर शोषण की इस दुष्प्रवृत्ति को अब ज्यादा दिन तक छिपाकर नहीं रखा जा सकता। खून से लथपथ बापू की लाश के बहाने की ओट लेकर जिन्होंने अपनी स्वार्थ-लोलुपता को वशीभूत हो, पैसा कमाने के व्यवसाय का मार्ग खोल रखा है—वे बापू के हत्यारे नहीं तो क्या उनके पोषक हैं?

*

बार बार अंतिम प्रणाम करता तुमको मन,
हे भारत की आत्मा, तुम कब थे भंगुर तन?
व्याप्त हो गए जन मन में तुम आज महात्मन्,
नव प्रकाश बन, आलोकित कर नव जग जीवन!
श्रद्धानत अंतिम प्रणाम करता तुमको मन,
हे भारत की आत्मा, नव जीवन के जीवन

भारत की गुलामी को दूर करने के लिये जिस वापू ने अपने अनवरत संघर्षों के द्वारा, अपने प्राण तक गँवा दिये, उसी के पीछे उसी के नाम पर इतने गुलाम वन गये--वनते ही जा रहे हैं। वापू के प्रति यह श्रद्धा नहीं दास वृत्ति है--गुलामी है, और इसी गुलामी के प्रति ही जिनका एक मात्र विरोध था। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की सवसे वड़ी साधना थी--भारत की गुलामी को मिटाने के लिये जीवन पर्यंत संघर्ष, और उनका दुर्भाग्य कि उन्हीं के नाम के पीछे कई भारतीय गुलाम वन गये। कृष्ण और राम के प्रति किसी भी अलौकिक तत्व को स्वीकार न करते हुए भी वे वापू को देवता के रूप में मानने को आतुर हो उठे--उनकी मूर्ति को मंदिर में स्थापित करना, उनके जीवन की एक महान् समस्या वन गई--जिसे हल करना ही उनके जीवन का एक मात्र साध्य रह गया--और उन्हें वे आज भी श्रद्धानत होकर प्रणाम करते हैं !

उनके दिखलाये पथ पर वे चलें या न चलें--तव भी वे उनका साध्य वने रहेंगे--उनके इष्टदेव वने रहेंगे ! उनके वतलाये हुए सिद्धांतों का वे पालन करें या न करें-- पर वे उन्हें सुवह शाम प्रणाम तो करेंगे ही; और प्रणाम भी कोई साधारण कोटि का नहीं--श्रद्धानत प्रणाम !!

०

★

बापू के तीन हत्यारे !

२. नरेन्द्र शर्मा

● हिन्दी के प्रतिनिधि कवियों के द्वारा, जिस साहित्य में गांधी जैसे व्यक्ति की मृत्यु पर, यदि एक जीवित गधे को *दुर्गति से भी कहीं हेय कविता लिखी जाकर पुस्तक रूप में प्रकाशित हो जाती हो, और जिसका कुछ भी प्रतिकार नहीं होता, उस 'हिन्दी' को 'साहित्य' संज्ञा से विभूषित करते हुए क्रोध नहीं, तो कम से कम लज्जा तो आनी ही चाहिये।

★

● शायद हमारे परम्परागत संस्कार ही, हमारे जीवन के प्रमुख स्वभाव वन गये हैं कि जिससे 'नारी' सम्बंधित किसी भी विषय के अन्यथा, न हम कुछ सोच पाते हैं, और न लिख पाते हैं! नैतिकता का दंभ भरने वाले पूज्य आर्यावर्त्त की आज वस एक ही समस्या है—नारी! जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जो इस छूत की वीमारी से ग्रसित न हो!

★

● तो एक ओर साहित्यकारों का समुदाय कल्पित प्रेयसि को अपने ही हाथों दूर करके, कविताओं के रूप में अच्छा खासा रोना रो लेते हैं, उसके वियोग में प्रलाप कर लेते हैं; फिर उसको अपने पास वुलाकर, संयोग शृंगार की अश्लीलता का खुला प्रदर्शन भी वड़ी सफलता के साथ कर लेते हैं! यह भारतियों की पैतृक वपौती है, और इसी को सँभालने में उनकी सारी शक्तियाँ नष्ट होती रही हैं, और होती रहेंगी। नारी के अन्यथा और किसी भी विषय पर हिन्दी के लेखक एक पंक्ति भी ठीक तरह से नहीं लिख पाते! लिखें भी तो कैसे? उस ओर उनकी विचार धारा को वह दिशा ही नहीं प्राप्त होती!

★

● किसी विरहणी के वियोग से भारतीय कवियों की अनुभूति उसी क्षण सजग हो उठती है—और दूसरी ओर वापू के सीने पर चलाई गई, पिस्तोल की तीव्र ध्वनि को सुनकर भी, इनकी अनुभूति की कुंभकर्णी निद्रा तनिक सी भी करवट नहीं वदलती!

---

* गधा एक था मोटा ताजा, वन वैठा वह वन का राजा!
कहीं शेर का चमड़ा पाया, चट वैसा ही रूप वनाया!

नरेन्द्र शर्मा

यों तो मैं अपने हाथों से ही लिखकर यह स्वीकार कर चुका हूँ कि इन तीनों किताबों में नरेन्द्र शर्मा द्वारा लिखी गई रक्त चंदन सबसे अच्छी है; कारण बतलाया था कि एक तो सबसे छोटी होने से उसके पढ़ने में समय कम लगता है, और दूसरा कि उसकी कीमत सबसे कम है। पर इसे पढ़ने के बाद जब इसकी आलोचना के लिये , पंत को समाप्त करके, मैंने इसे आरंभ किया तो सबसे पहिले यही शंका उठी कि इस तरह की किताबों और इस तरह के लेखकों पर किसी भी तरह की आलोचना करना, चाहे उनकी बहुत बुरी तरह से 'छीछा लेदर' ही क्यों न की जाय, उन्हें व्यर्थ में 'लिफ्ट' देना है। और मैं भी व्यक्तिगत रूप से इनकी आलोचना करना, अपने सम्मान के विरुद्ध समझता हूँ।

लेकिन यह प्रश्न केवल उनकी 'लिफ्ट' और मेरे सम्मान तक ही सीमित नहीं है, इसकी सीमा का विस्तार केवल दो आदमियों तक ही नहीं, बहुत कुछ व्यापक है। हिन्दी समाज में बहुत वर्षों से 'चलती आ रही' इन घातक दुष्प्रवृत्तियों के प्रति मेरा विरोध है, इतने दिन तक तो केवल विरोध ही था, पर आज से इन दुष्प्रवृत्तियों के प्रति मेरा संघर्ष भी है। स्वीकार करूँ कि इस ओर मेरे उद्देश्य और लक्ष्य का कुछ भी मेल नहीं खाता, पर विवश होकर मुझे इन सबके विरुद्ध तैयार होना पड़ा है–तब अपने आप ही इसे मेरा उद्देश्य बन जाना पड़ा–और मैं ईमारदारी के साथ इसका निवाह करूँगा–चाहे पाठकों का सहयोग मिले या न मिले–पर उनको अपने साथ खींच लाने का प्रलोभन तो मुझे है ही, इससे मैं इन्कार नहीं कर सकता।

'गांधी जी की पुण्य स्मृति में' लिखी हुई इस 'रक्त चंदन' की पृष्ठ संख्या है सत्तत्तर–और इसकी कीमत है–दो रुपये–सजिल्द नहीं,बिना जिल्द के। 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' की तुलना में अवश्य इसकी कीमत कुछ कम है, पर अपने आप में इतने पृष्ठों की यह दो रुपये की कीमत बहुत ज्यादा है। इससे क्या

हुआ—बापू के निधन पर लिखी गई ये कविताएँ हैं—जिसे गरज होगी वह खरीदेगा ही। दो के बदले में दस भी देने पड़ें तो क्या, सवाल गरज का है—कीमत का नहीं। लोग तो बापू का नाम ही देखते हैं—मूल्य कहाँ? उनके नाम पर दो तो क्या—करोड़ों रुपये जमा हो सकते हैं—कोई प्रयत्न करके तो देखे।

नरेन्द्र शर्मा ने प्रयत्न करके देखा है—और पैसे कमाये हैं!

*

असिधारा — आरोही
जीवन तप-त्याग हेतु
नर-तन प सेवा-धन,
साँस-साँस में स्वर्ग-सेतु,
संतन संदेश अमर,
देता फिर नव भारत!
युग-युग तक रहो, देव,
जन-मन में करो वास!
देशों का नहीं, अखिल
जगती का हरो त्रास,
मिट्टी हो आभामय,
ममता मद-मोह विरत!

कवि या लेखक समाज का एक बुद्धि चेता नागरिक समझा जाता है। बुद्धि के सहारे वह अपनी जीविका उपार्जन करता है—इसलिये वह अपने आप को बुद्धि-जीवी कहलाने का अधिकारी समझता है। यदि उन बुद्धिचेताओं की बुद्धि का यही नमूना है—तो फिर इस शब्द की परिभाषा बदल देनी पड़ेगी। क्योंकि ये बुद्धिजीवी जैसे-तैसे भी हों अपनी जीविका उपार्जन का साधन जुटा ही लेते हैं—पर कम से कम बुद्धि द्वारा तो नहीं।

ऊपरवाले उदाहरण में जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं—उसका नाम कविता है, और इनके लिखने वाले भारतवर्ष में कवियों के नाम से संबोधित किये जाते हैं।

गद्य के शब्दों को बिना किसी क्रम के आगे पीछे रख कर अंतिम दो शब्दों की तुक मिला दीजिए--वह कविता हो जायेगी। नीचे के एक और उदाहरण द्वारा यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगी:—

संध्या थी, प्रार्थना सभा थी,
थे कर बद्ध महात्मन्,
किस हिन्दू ने पुरुषोत्तम..
हिन्दू पर हाथ उठाया ?
लक्ष्मी नारायण उनके हित,
थे दरिद्र नारायण,
वेद-शास्त्र वच कर्म मनोगत,
थे न मात्र परायण !
जटिल संकुचित गूढ़ ग्रंथि में,
थी न चेतना वंदी,
मंदिर और कंदराओं में,
छिपे न वह करुणायन,
जहाँ दुःख अन्याय अविद्या,
गये वहाँ करुणाकर.
विनय शील निर्भीक साधना,
सत्याग्रह के पथ पर !
भारत का गजराज उबारा,
युग युग के संकट से,
क्या क्या नहीं किया बापू ने,
धारण कर तन नश्वर !
चाट गई लपटें सबको,
सूखा न एक प्रेमाशय !
खंड खंड था देश, किन्तु,
वह रहा अखंड शिवालय !

केवल वही विशाल हृदय था,
तजा न जिसने सबको,
जो चालीस कोटि वच्चों को छोड़,
गया न हिमालय !

सहसा हिन्दू हत्यारे ने.
छीन लिया जन धन को !
यह नूतन हिन्दुत्व ! चेत,
हिन्दु, ऐसे हिन्दु से !
वयो वृद्ध प्रिय राष्ट्र पिता के,
हत्यारे की बू से !

उस वात को मैं दूसरी वार फिर दोहरा रहा हूँ कि केवल कविता करने ही से कोई कवि नहीं हो जाता—और न कवि के लिये कविता करना आवश्यक ही है—विना कविता किये भी कोई कवि हो सकता है। इसका सीधा सा मतलव यही है कि मेरे अपने दृष्टिकोण से हर तुकवंदी कविता नहीं है—इसलिये फिर उसके लिखने वाले को कवि के रूप में स्वीकार भी किया जाय तो कैसे ?

गद्य के रूप में मुंह से कहने या लिखकर वताने की वात को तुकें मिला कर उसे भाषा में कहने मात्र से वह कविता तो नहीं हो जाती।

कहें तो एक उदाहरण भी दे दिया जाय।

जैसे धनीराम नाम का एक वनिया मेरा दोस्त है। हम दोनों एक ही कक्षा में पढ़ रहे हैं। उससे मैंने कहा कि मुझे अभी इस समय वड़े जोर की भूख लगी है—इसलिये सोजती गेट जाकर पहिले कुछ मिठाई खा आऊँ, फिर क्लास में आ सकूँगा—इसलिये वह मास्टर साहव को सूचित कर दे।

सीधी सादी सी वात है—और वह गद्य के रूप में वड़ी आसानी से कह कर व्यक्त की जा सकती है। पर कोई यदि इसी वात को वदल कर कविता के रूप में कहना चाहे—तो वह उसकी मूर्खता ही है—और क्या ?

ओ रे मेरे बन्ना सेठ,
मैं अभी जाऊँगा सोजती गेट।
खानी है मिठाई मुझे भर पेट,
अतः मैं आऊँगा कुछ लेट,
तो तू समझ गया न मेरे सेठ !

अभिव्यंजना की दृष्टि से इसमें बहुत कुछ निर्बलताएँ हो सकती हैं, पर घंटे भर तक कोशिश की जाय तो दस बीस कोमल शब्दों को चुन चुन कर इसी बात को बहुत सुंदर ढंग से व्यक्त किया जा सकता है ! पर इससे क्या अंतर पड़ेगा ? अकारथ ही किसी बात के लिये ज्यादा प्रयास करना और भी अधिक मूर्खता होगी। बहुत ही गहनतम परिश्रम किया जाय तो इसकी अभिव्यंजना 'भारत भारती' की तुकों के समान सुंदर हो सकती है—पर 'भारत-भारती' से अधिक तो कुछ भी नहीं होने का; वह 'कामायनी' के समान तो बनने से रही ?

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी;
आओ विचारें आज मिल कर, ये समस्याएँ सभी !

यदि सोजती गेट जाकर मिठाई खाने की उस बात को इस तरह की अभिव्यक्ति के उच्च स्तर तक पहुँचा दिया जाय तो क्या वह कविता कहलाने की अधिकारिणी हो जायेगी ?

छोटा सा प्रश्न है कि जब कोई बात बहुत सहज रूप में यदि गद्य के माध्यम द्वारा कही जा सकती है—तो फिर उसी को कविता में कह कर बतलाने के लिये अधिक परिश्रम करने की क्या आवश्यकता ? यह तो एक पागलपन ही होगा।

'संध्या के समय, प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी हाथ जोड़ कर खड़े थे।

तीसरी कक्षा का एक छोटा सा लड़का भी इस बात को गद्य में लिखकर बतला सकता है—तब फिर नरेन्द्र शर्मा ने किस विज्ञता से प्रेरित होकर इस बात को पद्य में लिख कर, अपनी महानता का परिचय दिया ? मैं समझना चाहने पर भी इसे समझ नहीं पाता।

संध्या थी, प्रार्थना सभा थी,
थे कर बद्ध महात्मन्।

'हमारे सौभाग्य से महात्मा गाँधी ही को केवल वह विशाल हृदय प्राप्त हुआ था कि वे महान् दुख के समय में भी हमारा साथ नहीं छोड़ सके—उन्होंने हमारा परित्याग नहीं किया। वे हम चालीस करोड़ बच्चों को छोड़कर हिमालिय नहीं गये सो नहीं ही गये।'

अपने मन की इस बात को कहने के लिये न मालूम किस समझदारी के प्रलोभन में आकर नरेन्द्र शर्मा ने इसका अनुवाद इस तरह पद्य में कर डाला—

केवल वही विशाल हृदय था,
तजा न जिसने सब को,
जो चालीस कोटि बच्चों को छोड़,
गया न हिमालय।

आज के संसार में कविता ही तो वह एक मात्र साधन नहीं है कि जिसके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की जा सके—फिर भी न मालूम क्यों अपने लंबे वालों को सँवार कर वहुत सारे व्यक्ति कवि वनने की विकलता प्रदर्शित किया करते हैं। क्या विना कविता किये उनके गर्व और मिथ्याभिमान को तृप्ति ही नहीं मिलती?

फिर गद्य की इन उपरोक्त पंक्तियों को इस तरह पद्य में लिखने के पश्चात् शर्मा जी ने ऐसा कौन सा सिंह का शिकार खेल लिया?

अपने अंतर्जगत को व्यक्त करने के लिये केवल कविता ही न, तो उसका एक मात्र माध्यम है--और न लाख कोशिश करने पर भी मन की सारी बातों को कविता में दर्शाया ही जा सकता है ।

कविता के बहाने जब मनुष्य अपने हृदय को सोलह आने बाहर निकाल कर नहीं रख सका तो कहानी का निर्माण हुआ । उसके बाद कुछ शेष रह गया तो उसकी कुछ पूर्ति उपन्यासों द्वारा कर ली जाती है । हृदय के कुछ अंश को व्यक्त करने के लिये उपन्यासों से नाटक कहीं अधिक सफल हुए हैं । जो बात निबंधों द्वारा बतलाई जा सकती है--उसको नाटक में नहीं उतारा जा सकता । इसी तरह साहित्य के विभिन्न अंगों का निर्माण होता रहता है, और भविष्य में न जाने कितने और अंगों का निर्माण अभी बाकी है--अभी से कुछ वैसी भविष्यवाणी तो की नहीं जा सकती ।

और जो बात लेखनी, भाषा के माध्यम द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ रही तो उसको तूलिका ने, रंगों के सहारे सहज में ही, केवल साधारण सी रेखाओं द्वारा चित्रित करके बतला दिया ।

पर जब किसी बात को चित्रित करने के लिये तूलिका को आवश्यकता से अधिक समय देना पड़ता है--तब इस समस्या के समाधान में कैमरे का आविष्कार हुआ । जो बात कैमरा एक मिनट भर में कह सकता है--उसी बात को कहने के लिये तूलिका को घंटों भर का समय चाहिये ।

तूलिका और लेखनी के बाद भी जो कुछ शेष रह जाता है--उससे उत्पन्न प्रश्न का उत्तर देने के लिये संगीत के विभिन्न वाद्यों, नृत्य कला की मुद्राओं और शिल्पकला की मूर्तियों का सहारा खोजना पड़ता है ।

समय की बढ़ती के साथ, धीरे-धीरे कला के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग से उसके अंगों की वृद्धि होती जा रही है--क्या संगीत-कला में, क्या चित्र-कला में और क्या नृत्य-कला में ।

'मजदूर' संज्ञा के व्यापक रूप में कला के ये बहुत सारे पहलू आ सकते हैं--मजदूर पर कविता लिखी जा सकती है, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि भी लिखे जा सकते हैं--उसका चित्र भी बनाया जा सकता है । पर फिर भी इन एक ही

'मजदूर' संज्ञा के अंतर्गत कुछ अपने-अपने इस तरह के विषय हैं--जो या तो केवल कविता ही के लिये उपयुक्त हैं--या केवल कहानी ही के लिये ।

आजकल सिनेमा के द्वारा जो प्रदर्शित किया जा सकता है--उसको कला के किसी भी क्षेत्र द्वारा व्यक्त करना संभव नहीं । पर सभी कलाओं के ये विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे के अंतर्विरोधी नहीं--केवल पूरक ही हैं--इस अंश में कि अन्तर्चेतना की अभिव्यंजना ही को पूर्णता देने के लिये उनका निर्माण हुआ है ।

जो बात कविता या कहानी के द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं दिखलाई जा सकती, उसको अपने उपयुक्त साधन चित्र कला के द्वारा एक मिनट भर के अल्प समय में व्यक्त किया जा सकता है । फिर भी उसे कविता में उतारने का निष्फल प्रयत्न एक नादानी के अन्यथा क्या कह कर पुकारा जा सकता है ?

●

हिन्दी साहित्य के अधिकांश कवि भी इसी श्रेणी के अंतर्गत आ जाते हैं, जिन्होंने कविता लिखने का यों ही व्यर्थ प्रयास किया ।

सो कविताओं के रूप में 'रक्त चन्दन' का यह निष्फल परिश्रम--नासमझी के के साथ कवि की धूर्त्तता की ओर भी संकेत करता है । क्योंकि उसकी नासमझी ने बहुत सारे पाठकों की जेब से दो-दो रुपये छीनकर अपनी स्वार्थ सिद्धि कर ही ली है । जैसे कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं कि उनकी मुट्ठी में पाँच रुपये का पत्ता थमाकर आप उन्हें पाँच गालियाँ भी दे दीजिये--वे उसे सहन कर लेंगे । यदि श्री नरेन्द्र शर्मा भी अपनी इस नासमझी से काफी रुपया कमा लेते हैं--तो उन्हें 'धूर्तता' की यह विशेष उपाधि भी शिरोधार्य है--और न रुपये पाकर नासमझ कहलाने का यह सौदा ही कुछ मँहगा रहा ।

दिन भर के अथक परिश्रम के बाद जब किसी मजदूर को मुश्किल से एक रुपया मिल पाता है, वह दिन भर मिट्टी खोदता है, बड़े-बड़े पत्थर अपने सिर पर ढोता है, भयावह राक्षसों जैसी मशीनों के पुर्जों से कुश्ती लड़ता है--तब कहीं सांझ का अँधेरा पड़जाने के बाद उसके हाथ में एक रुपये की रेजगारी आ पाती है--तो यदि तीन चार दिन में हजार तुकों को इधर-उधर जोड़ने मात्र से ही तीन चार सौ रुपयों की चोट पक्की हो जाती है--तो इसमें बुरा ही क्या है ?

न बैठे पान की दुकान पर,अपनी कुछ कविताएँ ही प्रकाशित करावा लीं; पेट का खड्डा भरना है–चाहे जैसे भी भरो। जब साल में होली–दिवाली के एकाध अवसर पर एक मोची, मेघवाल को भी मीठा खाने को मिल जाता है–तब क्या भारतीय कवियों के लिये दस–पाँच अवसर भी ऐसे हाथ नहीं लग सकेंगे ? कभी बापू मर गये, कभी अरविंद को मुक्ति हो गई, तो कभी हिन्दु-मुसलमान आपस में जूझ पड़े–तो कभी भयंकर अकाल ही पड़ गया–कवियों के लिये ये ही तो पवित्र त्योंहार हैं-जिन पर उन्हें अच्छी खासी दक्षिणा प्राप्त हो जाती है।

जगती के हित चिंतक,
जन के तुम मान्य जनक !
जनता है जनक सुता,
हरता मन क्षणिक कनक !

महात्मा गाँधी 'जगती के हितचिंतक' भले ही न हों, पर कम से कम नरेन्द्र शर्मा जी का 'हित साधन' तो वे मरने के बाद भी कर गये–इसी कारण से यदि उन्हें अपने हित में सारे संसार का हित दीख पड़ा तो यह अस्वाभाविक नहीं। यदि इस बीच में पूज्य बापू का देहावसान नहीं हुआ होता तो ये कविताएँ वे कहाँ से लिख पाते ? बिना कुछ लिखे प्रकाशन का प्रश्न ही नहीं उठता–और इस प्रश्न के हल हुए बिना रुपयों की केवल कल्पना ही की जा सकती है–पर उन्हें अपनी मुट्ठी में भरा नहीं जा सकता !

जहाँ तक मुझे अपनी जानकारी पर विश्वास है, निश्चय रूप से मरते समय बापू के मुँह से केवल 'हे-राम' ही निकला था। न वे 'हे' के पहिले ही कुछ कह पाये थे—और न 'राम' के बाद,इसके अन्यथा न तो रेडियो में कुछ और सुनने को मिला और न अखबारों में पढ़ने को, पर बापू की मृत्यु के बाद लिखी गई इन किताबों को पढ़कर लगता है कि जैसे बापू हिन्दी के कवियों को मरते समय यह शपथ दे गये थे कि वे उनके बारे में कुछ न कुछ लिखें अवश्य, नहीं तो उनकी आत्मा को चैन नहीं मिलेगा। यदि वास्तव में ऐसा ही हुआ होता तो यह कहकर मन को समझा लेते कि यह गलती हिन्दी के कवियों की नहीं-स्वयं बापू की है—जो उन्हें इस तरह की शपथ दिला गये, और हमारे राष्ट्र-पिता मरते समय ऐसी-वैसी गलती कर भी गये तो कोई बात नहीं!

लेकिन ऐसा वास्तव में हुआ नहीं भी; ऐसा प्रतीत होता है कि शपथ की बाध्यता के अन्यथा, अपने मन की प्रेरणा से लिखी हुई कविताएं इतनी भद्दी क्यों कर हो सकती हैं?

और यदि मन की प्रेरणा नहीं थी—तो फिर इन्हें लिखने की ऐसी कौनसी आवश्यकता आ पड़ी? पैसों की....नहीं-नहीं—रुपयों की! तो क्या रुपयों की प्राप्ति का यही सबसे अधिक सीधा रास्ता है—जिस पर चल कर रुपये बटोरे जा सकते हैं?

इस तरह के लेखकों से यह प्रश्न करते हुए मैं क्षमा-याचना भी नहीं करना चाहूँगा कि यदि उन्हें केवल रुपया ही एकत्रित करना है—तो वे अपनी जवान वहिन, वेटियों को बनारस की दालमंडी में एक सस्ता सा कमरा किराये लेकर क्यों नहीं विठा देते—खूब चाँदी ही चाँदी है!

क्या कहा—घर की इज्जत!

लेकिन इस प्रश्न के उत्तर में, मैं केवल यही कहकर चुप हो रहूँगा कि तुम्हारे घर की इज्जत कोई मुफ्त में तो नहीं गई—उसके बदले में ये लाखों रुपये जो मिले हैं। यदि किसी सस्ती कीमत पर इज्जत विक जाती तो कोई बात भी थी।

और न इसमें इतने अधीर होने ही की आवश्यकता है। अपने पूज्य आर्यावर्त्त में दालमंडी की व्यवस्था के साथ-साथ पावन गंगा मैया की भी तो सुव्यवस्था है! पाप निवारिणी इस पवित्र धारा के जल में एक बार डुबकी लगाने भर से जीवन के सारे पाप धुल कर बह जाते हैं!

यदि गंगा मैया की इस जादूभरी व्यवस्था के बाद भी कुछ शंका शेष रह जाय तो उस समय की प्रतीक्षा कीजिये जब तुम्हारी ये बहिनें और बेटियें—बूढ़ी होने के बाद इस संसार ही को छोड़कर चली जाँय, फिर उनके द्वारा कमाये गये परिश्रम से तुम वापिस पहिले से भी अधिक प्रतिष्ठा बढ़ा सकते हो—यह समाज इसी तरह ही का है। जिस समाज में केवल टाटा, बिड़लाओं को सम्मान मिलता हो—उस समाज में यह सब कुछ संभव है!

और तुम्हें तो घर की इज्जत के बारे में कुछ भी सोचने-समझने का वह अधिकार ही कहाँ रह जाता है—जब उसके विनिमय में तुम्हें ढेरों रुपये का लाभ हो रहा है। जो व्यक्ति घर की इज्जत को लेकर शंका कर सकता है—उसे समाज की इज्जत का भी तो कुछ ध्यान होना चाहिये। अपने घर की इज्जत रख कर, क्या उन्होंने इस तरह की कृतियों के द्वारा हिन्दी समाज की इज्जत को गहरा धक्का नहीं पहुँचाया है—क्या उसके मत्थे उन्होंने यह अमिट कलंक नहीं थोप दिया है? इन पंक्तियों को लिखते समय क्या उनकी क्षुद्र अर्थ लोलुपता पर हिन्दी समाज की इज्जत ने एक क्षण भर के लिये भी उनकी नैतिक जिम्मेवारी पर अंकुश नहीं लगाया? दुध मुँहे हिंदी साहित्य के डगमगाते पाँवों की लड़खड़ाती गति को रोक रखने के लिये इस तरह की रचनाओं द्वारा अवरोध पैदा करना—यह कहाँ की नैतिकता है?

*

गये महात्यन्, अल्य बुद्धि के,
आघातों को सहकर,
हतचेतन हम समझ न पाये,
परमात्मन की माया !
हेतु और कारण क्या थे,
उस आस्तिक की हत्या के,
परम भागवत ने यों तुच्छ करों से,
शिव-पद पाया !
क्षमा करो, प्रभु, नव भारत को,
भारत है, हत्यारा !

तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं के आशीर्वाद की छत्रछाया इस पवित्र आर्यावर्त की भूमि पर होने पर भी यहाँ के भक्तों का अभी मन नहीं भरा, वे एक देवता और जोड़ देना चाहते हैं—जो उनके सभी दुख हरण कर लेगा ! अच्छा होता उन पुराने सभी देवी-देवताओं की मूर्तियों को अरब सागर या बंगाल की खाड़ी में बहा-कर,हर मन्दिर में बापू की प्रतिमा स्थापित कर दी जाय—और इस तरह की कविताओं के बदले में संध्या के समय, आरती पर—यह प्रार्थना उच्चारित की जाय——

जय मोहन, मोहन रे,
भक्त जनन के संटक
क्षण में दूर करे ।
ओम् जय मोहन मोहन रे !
जय मोहन गाँधी दुःख-त्राता
भक्तों के संकट हरता
कलदारम् के शुभ भरता—
सुख संपति घर आवे—

....

बस फिर क्या कहना—खूब प्रसाद चढ़ेगा—अर्घ्य चढ़ेगा—नैवेद्य चढ़ेगा—चाँदी चढ़ेगी—सोना चढ़ेगा ! बापू के भक्त लोग मजे करेंगे—पर इससे साहित्य की दुर्गति

तो कम हो जायेगी—इससे बापू के नाम पर होनें वाले कूड़े—करकट और बढ़ोतरी तो नहीं होगी ।

हिंसा है अभी अमित,
मानव भी अस्थिर चित्त
अकर्मन्य प्राणी है,
स्वार्थ बुद्धि-अनुशासित !

यदि मेरा कोई मित्र इस तरह की 'रक्त चन्दन' लिख कर, प्रकाशित करवाने के पहिले मेरी राय जानना चाहता, तो उसे थोड़े ही में समझा देता कि भैया अपनी इस हस्तलिपि को नन्दलाल हलवाई की भट्टी में जला दो । चाहो तो बापू की मृत देह पर कहीं भी, सिर पर, छाती पर, अपने पाँवों से कस कर दो लातें जमा दो, क्योंकि आख़िर उस लाश को तो चिता में जलना ही है, पर उनके नाम पर तुम इस तरह प्रहार न करो—तो ज्यादा अच्छा है ! उनके मरने के बाद क्यों उनकी इस तरह धूल उड़ाने पर तुले हो !

कुछ इधर-उधर की बातों के पश्चात् शायद मैं उसे मना ही लेता, पर यह छपी छपाई 'रक्त चन्दन' आँखों के सामने जो है—इसका अब क्या करूँ ? इस एक प्रति को जलाने से भी क्या मतलब सिद्ध होगा ।

कहा—राम, हे राम, और फिर
श्री मुख कभी न खोला,
फेंक दिया है दिव्यात्मा ने
मिट्टी का तन चोला,
नग पति डोले - किन्तु न डोला,
मंदिर हृदय - हिंडोला,
जिस पर कोटि नयन न्योछावर,
उस पर गोली गोला ।

अपने आप को कितना विवश पाता हूँ, और अपनी इस विवशता पर मन ही मन मुझे कितना दुख करना पड़ता है, जब कि इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद मैं इस कवि का कुछ भी बिगाड़ सकने में सर्वथा असमर्थ हूँ । क्रोध के मारे दांत

भी कट कटाऊँ—तो इससे अपने दाँतों ही को दर्द होगा—इस कवि का तो कुछ भी बिगड़ने से रहा !

खोला, चोला, और डोला से तुकों का मिलान करने के लिये 'हृदय-हिंडोला और 'गोली गोला' तक जैसे विकृत और निम्न कोटि के शब्दों का प्रयोग करने में कवि को तनिक सी भी झिझक नहीं हुई ।

क्या बापू का व्यक्तित्व इतना निर्बल और दयनीय था कि जिसकी प्रेरणा से इतनी निम्न कोटि की कविता को जन्म मिला ?

बचपन के बहुत आरंभ में एक कविता पढ़ी थी—गधे पर, जो आज भी बापू पर लिखी गई इस कविता से लाख दर्जा अच्छी है ।

गधा एक था मोटा ताजा,
बन बैठा वह बन का राजा ।
कहीं सिंह का चमड़ा पाया,
चट वैसा ही रूप बनाया ।

हिन्दी के प्रतिनिधि कवियों के द्वारा जिस साहित्य में गाँधी जैसे व्यक्ति की मृत्यु पर यदि एक जीवित गधे की दुर्गति से भी कहीं हेय कविता लिखी जा कर पुस्तक रूप में प्रकाशित हो जाती हो—और जिसका कुछ भी प्रतिवाद नहीं होता—उस 'हिन्दी' को 'साहित्य' संज्ञा से विभूषित करते हुए क्रोध नहीं तो कम से कम लज्जा तो आनी ही चाहिये ।

*

बीजाक्षरवत् भूदेवी निरक्षरा के-
दीपित प्रतीक तुम निर्धन वेद व्रता के !

तुम अतल सत्य-जल कूप मगों के मरु में,
फल अमर वल्लरी ग्रस्त राष्ट्र के तरु में ।
विश्वास-सार-सौरभ दिक्काल अगरु में,
प्रद्योत शस्य तुम मूर्छित पार्थिवता के ।

ग्रह-गोलक-सा-जन पिंड तप्त भ्रमता नित,
ले रहे जन्म शशि-अंगारक युग भावित;
तुम इस युग के चिद् शक्ति पिंड अपराजित
सित-शीर्ष-पुष्प भारत की कीर्ति लता के।

विज्ञान का विद्यार्थी न होने पर भी मैं एटम बम के सिद्धांतों को यदि कोई मुझे समझाने की कोशिश करे तो मैं आसानी से उसे समझ सकने की क्षमता का दावा कर सकता हूँ—पर इन पंक्तियों को कविता मानने के लिये वर्षों समझाने पर भी मैं समझ नहीं सकूँगा। यह तो मैं खुद मान रहा हूँ इन पंक्तियों के अंतिम शब्द जुड़ रहे हैं—मतलब कि तुकें मिल रही हैं; कहीं-कहीं बीच-बीच में उखड़ी-उखड़ी सी लय भी है—फिर भी यह कविता कैसे है—यह मेरी समझ में नहीं आता। ईमानदारी के साथ समझने का प्रयत्न करने पर भी मैं इसे समझ नहीं सकता। फिर इसके मतलब को समझ सकना मेरे वश और सामर्थ्य की बात ही कहाँ रह जाती है?

क्या असाधारण व्यक्तित्व वाले बापू के लिये साधारण शब्दों का प्रयोग निषिद्ध था—जो छाँट-छाँट कर इस तरह के शब्दों को बल पूर्वक एक स्थान पर एकत्रित किया गया! यह कविता ही तो थी—कोई शब्द प्रदर्शनी नहीं!

यदि इस नीचे वाली कविता पर किसी रचयिता का नाम न हो—तो मैं निश्चय रूप से इसे पंत ही की कविता मानता! पंत जैसे कवियों का भी अनुकरण होने लग गया है—निर्णय नहीं कर पाता कि इस बात पर आश्चर्य प्रकट करूँ—या आक्षेप। पर हिंदी जगत में तो ऐसा होता ही रहता है—इसमें नई बात तो कुछ भी नहीं, जिस पर आश्चर्य प्रकट किया जाय!

जो लौकिक वही अलौकिक है,
सामान्य सत्य ही परम गूढ़,
मानव ही दिव्य मानवो-परि,
मानव ही दानव अधम मूढ़।
आचरण 'विचार' कामना में,
मानव देही की मुक्ति निहित,
है यह जगती ही आदि अन्त,
अपवर्ग—स्वर्ग कल्पना रूढ़।

एक उदाहरण और :—

भारत का शिरस्त्राण भू लुंठित !
शिरोधार्य वरद हस्त पदमर्दित !
घूम रहा दुर्विनीत वक्री
विपरीत चक्र !
आर्य भूमि भारत का दुर्गति
यह प्रगति वक्र !
ऊर्ध्व मूल अक्षय वर नाश ग्रथित !
भ्रान्ति और विभ्रम का आशय,
यह उर उदार,
अभी नहीं समझ सका
निष्ठुर वह चमत्कार।
बापू की हत्या में मर्म निहित ?
जरा-मरण भिन्न बुद्ध,
अहंकार शाश्वत है;
यह अनात्म है, महात्म-तत्व हेतु
घातक है !
मानवता-राग-द्वेष-क्लेश-विजित है।

इस तरह की तीन चार कविताएँ और भी हैं, जिन सबको पढ़ने के पश्चात्, सच, मैं अपने होने वाले बच्चे की कसम खाकर कहता हूँ कि मुझे तो यही लगा कि या तो श्री सुमित्रानन्दन पंत ने नाम बदल कर-इन कविताओं को प्रकाशित किया है, या उनके हाथों ये कविताएँ नरेन्द्र शर्मा को अनुनय याचना पर दान कर दी गई हैं।

क्या बापू पर सहज भाव से साधारण शब्दों की अभिव्यंजना द्वारा, कविता लिखी ही नहीं जा सकती-सो इस तरह के बड़े शब्दों की ओट में अपने भावों के दिवालिये पन को छिपाने की कोशिश की गई !

हाई स्कूल के एक अध्यापक परीक्षा के गुर बताते समय अक्सर कहा करते थे कि यदि तुम्हारी समझ में कोई बात न आये तो उसको इस तरह घुमा फिरा

कर लिखो कि वह परीक्षक की भी समझ में नहीं आये और साथ में वह यह हर्गिज जानने न पाये कि तुम्हें विषय की जानकारी नहीं है।

मैंने भी इस गुर का तीन चार बार अच्छी तरह से उपयोग किया था-पर नरेन्द्र की तरह इतनी सफलता के साथ नहीं। शर्मा जी के चातुर्य को स्वीकार करता हूँ।

इनको खुद नहीं मालूम कि वे किस बात पर क्या भाव लेकर कविता कर रहे हैं-इसलिये उन्होंने पाठकों को भी साफ साफ जानने नहीं दिया कि इन कविताओं का मतलब क्या है? पाठक यह सोचकर उन्हें छोड़ दे कि कविता कुछ गूढ़ है-और उसको समझने की मुझमें अभी वह योग्यता नहीं।

कविताएँ क्या की हैं-मानो पहेलियाँ बुझाई गई हैं। जो 'न सखि साजन, ना सखि कुत्ता' वाली पहेलियों से कुछ ज्यादा आधुनिक और ज्यादा साहित्यिक हैं।

ज़रा आप भी इसका मतलब बतायें तो जानें। इनाम इकरार देने को मेरे पास कुछ भी नहीं है-पर इस बहाने आपके मस्तिष्क की परीक्षा तो हो ही जायेगी। बड़ी गूढ़ पहेली है—

> अर्ध्व मूल अक्षय वर नाश ग्रथित
> भ्रान्ति और विभ्रम का आशय,
> यह उर उदार,
> अभी नहीं समझ सका
> निष्ठुर वह चमत्कार!
> 'न सखि मोहन न सखि बापू!' (मेरी अपनी ओर से)

यह बापू जैसी 'महान् आत्माओं' पर लिखी गई कविताओं का महत् नमूना है।

इसकी तुलना में, मैं अपने भाई सवाई सिंह, जो पाँचवीं कक्षा में पढ़ता है, उसकी एक कविता की चार पंक्तियों को उद्धृत करने की 'धृष्टता' कर रहा हूँ।

हमारे घर में एक कुत्ता था 'टॉमि'। सवाई उसको बहुत ज्यादा प्यार करता था। उसके मर जाने पर उसने दो दिन तक खाना नहीं खाया-और तीसरे दिन

उसने खाना खाने के पश्चात् उस पर एक कविता लिखी—जिसकी आखिरी चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

पर अफसोस कब्र पर तेरे,
मैंने दीपक नहीं जलाया।
टॉमि तेरी स्मृति पर कोई,
ताज महल में बना न पाया।

बड़ा भाई होने पर भी मैं उसकी इस कविता को बहुत अच्छी कविता तो नहीं मानता, पर केवल निकट आत्मीय होने के कारण भी मैं इस बात से तो किसी प्रकार इन्कार नहीं हो सकता कि हिन्दी के इन तीनों यश प्राप्त कवियों की तीनों पुस्तकों में कोई भी चार पंक्तियाँ ऐसी नहीं हैं जो इससे अधिक सच्चाई, ईमानदारी और अनुभूति की गहराई का दावा कर सकती हों।

क्या इस बात को केवल दुख और अफसोस ही की बात मानकर, धैर्य धारण कर लें कि एक किशोर के अनभिज्ञ हाथों से मृत कुत्ते पर लिखी गई पंक्तियों के बराबर बापू पर लिखी गई इन किताबों की कोई भी पंक्ति उस स्तर तक नहीं पहुँच पाई।

*

केवल कविताएँ ही निकृष्ट कोटि की हों, सो बात नहीं, न भावों का पता, न सिद्धांतों का और न विचारों का। समझ नहीं पड़ता कि दो रुपये में यह 'चंदन तिलक' आखिर किस उद्देश्य विशेष से लगाया गया है। दो रुपयों के बदले में यह रक्तचंदन का 'तिलक' तो बहुत ही मँहगा रहा।

एक कविता में तो शर्मा साहब जहाँ बापू के भौतिक शरीर की क्षण भंगुरता के विनाश पर रंच मात्र भी दुख नहीं करते, उसे परम पिता परमात्मा की माया का खेल समझते हैं-वहाँ दूसरी कविता में गोडसे को क्रोध में आकर भावावेश में, हत्यारा, पापी और न जाने क्या क्या कहकर संबोधन कर डालते हैं :—

हत चेतन हम समझ न पाये
परमात्मन् की माया,
परम भागवत ने यों तुच्छ करों से,
शिव पद पाया !

और दूसरी ओर:—

वयो वृद्ध बापू की हत्या
घटना यह सामान्य नहीं है !
यह कैसा हिन्दुत्व, किया पैदा,
जिसने उसका हत्यारा ?
चिन्तातुर हो पूछ रहा है,
भावी लोकतंत्र भारत का,
मौन निरंतर विक्षुब्ध रहा है,
आहत अंतकरण हमारा।

*

शर्मा साहब ! गोडसे ने कैसा बुरा भी काम किया हो, कम से कम आपको तो उसे कोसने का कोई अधिकार नहीं है। आपने भी रक्तचन्दन लिखकर उससे कम बुरा काम नहीं किया। नाम बुरा होने पर भी उसके द्वारा बापू की हत्या किये

कर लेते हैं-फिर उसको अपने पास बुलाकर संयोग शृंगार की अश्लीलता का खुला प्रदर्शन भी बड़ी सफलता के साथ कर लेते हैं। यह भारतियों की पैतृक बपौती है-और इसी को संभालने में उनकी सारी शक्तियाँ नष्ट होती रही हैं-और होती रहेंगी।

नारी के अन्यथा और किसी भी विषय पर हिन्दी के लेखक एक पंक्ति भी ठीक तरह से नहीं लिख पाते। लिखें भी तो कैसे? उस ओर उनकी विचारधारा को वह दिशा ही नहीं प्राप्त होती।

'रक्तचंदन' के बहुत वर्षों पहिले इन्हीं शर्मा जी ने एक कविता संग्रह प्रकाशित करवाया था—'प्रवासी के गीत'। यह इनकी प्रारंभिक रचना थी। 'प्रवासी के गीत' और रक्त चंदन के बीच, और तीन चार किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रवासी के गीतों को अच्छी तरह से पढ़ा था-और उसी के मोह वश 'पलाश वन' को पढ़ने की चाह नरेन्द्र का नाम देखकर अपने आप ही हो गई—पर उस अगली पुस्तक के कारण इतनी घृणा हो गई कि फिर इनकी कोई भी पुस्तक पढ़ने को जी नहीं हुआ।

'प्रवासी के गीत' प्रथम प्रयास होने पर भी बुरे नहीं थे। हिन्दी में ऐसी कम ही पुस्तकें होंगी, जिनके लिये 'बहुत अच्छा' शब्द का प्रयोग किया जा सके। ऐसी भी किताबें बीसियों में एकाध ही मिलती हैं—जो एकदम से बुरी भी नहीं कही जा सकतीं। 'प्रवासी के गीत' इसी कोटि की किताब है-जिसको कि न अच्छा कहा जा सकता है-और न बुरा ही।

इस किताब की सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उसमें सहज भाव की सीधी सादी अभिव्यंजना देखने को मिलती है—जिसका रक्तचंदन में सर्वथा अभाव है।

उसकी पहली कविता की पहली दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

> सांझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी?
> क्या किसी की याद आई ओ विरह व्याकुल प्रवासी!

किसी विरहणी के वियोग से भारतीय कवियों की अनुभूति उसी क्षण सजग हो उठती है-और दूसरी ओर बापू के सीने पर चलाई गई, पिस्तोल की तीव्र

ध्वनि को सुन कर भी इनकी अनुभूति की कुंभकर्णी निद्रा तनिक सी भी करवट नहीं बदलती।

वह कितना सुंदर सपना हो
जो आकर मेरे सिरहाने
जलता मस्तक सहला दो!

*

इतना क्यों रूठ गई रानी
सपनों में भी आना छोड़ा!

रानी के विछोह में इस तरह की अद्भुत सूझ इनकी लेखनी से होकर जहाँ अपने आप ही निकल बहती है, वहाँ बापू के हृदय से निकले रक्त में भी लेखनी डुबो कर, यदि ये चोटी से लगाकर एडी तक का पसीना एक कर दें तो भी इस तरह की अभिव्यंजना को वे उस खून के शब्दों में भी नहीं उतार सकते।

पड़ा हुआ हूँ पथ पर, मेरा दुनियाँ से इतना नाता है,
क्यों मुझको कोई आकर, मन चाहे ठुकरा जाता है।

एक बेजान निर्जीव, उपेक्षित पत्थर के ठीकरे की ठोकर लग जाने पर कवि की अनुभूतियाँ जहाँ इतनी द्रवित हो जाती हैं–वहाँ रक्त से सनी हुई बापू की लाश को अपने पांवों से पूर्ण तया कुचलने पर भी, उस तरह के एक भी शब्द की रचना नहीं की जा सकती। कवि के हृदय की अनुभूति का यह स्वभाव ही निराला है!

कल्पित प्रेयसी के रूठ जाने पर, उसको उलहना दिया जा सकता है कि उसने स्वप्नों तक में भी आना क्यों छोड़ दिया? पर मरे हुए हुए बापू को, जिनसे कि जीवित रूप में साक्षात्कार हो जाने की अब कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्या उस बापू को उलहने के रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि—

इतना क्यों रूठ गये बापू
सपनों में भी आना छोड़ा!

तब तो कोई बात भी होती। इस रूठने का शब्द का कुछ गहरा मतलब भी [illegible]ता। अपने ही देश वासियों के हाथों मारे जाने पर उनका रूठना भी स्वाभाविक

ही होता। फिर उस रूठने के वाद सपनों तक में वापू के दर्शन न होना, और फिर उस उलहने में हृदय की असीम वेदना का छिपा हुआ वह रूप। केवल इन दो पंक्तियों के पढ़ने मात्र से मैं वापू के मरने को सार्थक समझ लेता। इन दो पंक्तियों के अन्यथा मूझे यदि 'रक्त चन्दन' में कुछ और भी नहीं मिलता, तो भी मैं नरेन्द्र-शर्मा को कम से कम वापू का हत्यारा कह कर तो संवोधन नहीं भी करता।

'रक्त चन्दन' की भूमिका में शर्मा साहव वहुत ही नम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं :—

"वह रक्त नहीं, रक्तचंदन था, जिससे गाँधी जी हमारे स्वातंत्र्य प्रभात को सींच गए।

उनका निधन न जाने कितने युगों तक, कितनी काव्य कृतियों के लिये प्रेरणा श्रोत वना रहेगा। उनका जीवन तो अनगिनती महा काव्यों का विषय वनेगा ही।"

वापू के ताजे खून को अपनी आँखों से देखकर भी उसकी प्रेरणा का परिणाम निकला—केवल रक्तचंदन ही तो, फिर उनके नाम ही को, उनकी कथाओं ही को पढ़ सुन कर उससे मिलने वाली प्रेरणा भी न जाने कैसी होगी—और उस प्रेरणा के वल पर जो काव्य कृति लिखी जायेगी-उसका रूप भी न जाने कैसा होगा? उसके अनुमान की कल्पना करने मात्र ही से मेरी गरदन पर तो अतुल लज्जा का वोझ आ धमकता है। पर न मालूम क्योंकर शर्मा साहव को भविष्य के उस पार एक सुनहली आशा किरण दीख पड़ी-और उन्होंने लिख दिया कि वापू का जीवन अनगिनती महाकाव्यों का विषय वनेगा ही।

वनेगा साहव, जरूर वनेगा, क्योंकि परम्परा के रूप में उन कवियों को 'सूत की माला', 'खादी के फूल' और 'रक्त चन्दन' जैसे महाकाव्य प्राप्त होंगे-फिर उनके लिये भला और क्या कमी रह जायेगी? इन कृतियों का प्रेरणा श्रोत भी कुछ कम महत्व का नहीं होगा!

वापू के वक्ष पर लगे तीन घाव जो कुछ भी कर सकने में सर्वथा अक्षम रहे, उसे 'रक्त चन्दन' सहज ही में निस्संदेह पूरा कर सकेगा। इसकी एक एक पंक्ति उन भावी पीढ़ियों को प्रेरणा देती रहेगी—निसंशय रूप से!

दो अलग अलग व्यक्तियों की पारस्परिक तुलना के औचित्य को मैं मान्यता नहीं भी दूं, तो भी नरेन्द्र के द्वारा लिखी गई पहिले की रचनाओं, और रक्त चन्दन के पारस्परिक वैषम्य की, मैं चाहने पर भी उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवासी के गीतों का गीतकार भी यही नरेन्द्र है जिसने कि उन्हीं हाथों से रक्त चन्दन के रूप में अपनी मूर्खता का इस तरह खुला प्रदर्शन किया। विश्वास कर लेने पर भी यह कारण समझ में नहीं आता कि आखिर एक ही व्यक्ति के द्वारा लिखी गई दो कृतियों में इतना विभेद क्योंकर हो सकता है?

शायद हमारे परम्परागत संस्कार ही हमारे जीवन के प्रमुख स्वभाव बन गये हैं कि जिससे 'नारी', संबंधित किसी भी विषय के अन्यथा न हम कुछ सोच पाते हैं और न लिख पाते हैं। नैतिकता का दंभ करने वाले भारतवर्ष की आज बस एक ही समस्या है नारी। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो इस छूत की बीमारी से ग्रसित न हो!

भारत के सभी चलचित्रों की बस एक ही कहानी है-एक औरत और दो आदमी, या दो औरतें और एक आदमी। सच बात तो यह है कि अभी तक भारतीय फिल्म संसार केवल एक ही चित्र बना पाई है-और उसके नाम सैकड़ों हैं-चाहे उसी एक फिल्म को दीदार कह लीजिये चाहे किस्मत, कंगन, बंधन, बुजदिल, अंदाज, आग, आवारा, बरसात चाहे बावरे नयन या सुहाग रात।। एक ही खेल के अलग अलग नाम रख दिये गये हैं-बस इससे अधिक और कुछ भी नहीं।

नारी समस्या के अन्यथा न तो यहां के लेखक कुछ सोच पाते हैं-और न यहां के फिल्म निर्माता। जीवन के किसी भी क्षेत्र को उठा देखिये उसके रंगीन परदे के पीछे कहीं तो नारी के उभरे हुए उरोज मिलेंगे-कहीं उसकी कजरारी आंखों का वर्णन! कहीं गुलाबी गालों की ललाई-कहीं पतली कमर का लचीलापन। तो कहीं उसके छलनामय जीवन का चित्रण है-तो कहीं उसके निष्ठुरपन का प्रदर्शन किया गया है! कोई उसको पाने की आशा में उन्मन मद भरे गीत गा रहा है-तो दूसरी ओर कुछ मूर्ख उसको न पाने की निराशा में अपने प्राणों तक को नष्ट कर डालने का मुखद प्रयास कर रहे हैं!

तो एक ओर साहित्यकारों का समुदाय कल्पित प्रेयसी को अपने हाथों दूर करके कविताओं के रूप में अच्छा खासा रोना रो लेते हैं-उसके वियोग में प्रलाप

जाने पर भी, इस घटना से वापू के बारे में, बहुत सारे साहित्य की तो सर्जना हो ही गई। पर आपके इस रक्तचन्दन के द्वारा तो वापू का व्यक्तित्व घटा ही है-बढ़ा नहीं।

कौन सी घटना सामान्य नहीं है—वापू की हत्या, या 'रक्तचंदन' का प्रकाशन-यह ज़रा सोचने समझने का प्रश्न है ? और न मालूम वह समाज भी कैसा है–जो इस तरह के व्यक्तियों से, यह प्रश्न नहीं कर सकता कि उसने यह किताब क्यों लिखी ? यदि लोक तंत्र को अपने नाम का कुछ भी सम्मान रखना है–तो उसे गोडसे से कहीं अधिक 'रक्तचंदन' जैसी किताबों के रचयिताओं को कटघरे में खड़ा करके उनसे जवाव देही करनी पड़ेगी–करनी ही चाहिये। गाँधी की हत्या का विक्षोभ तो समय की वढ़ोतरी के साथ घटाया भी जा सकता है, पर इस तरह के निम्न कोटि साहित्य से तो समय की वढ़ती के साथ साथ लज्जा का भार भी तो बढ़ता ही रहेगा।

*

विना सोचे समझे यों ही अनजाने में कवि के द्वारा रक्तचंदन में जो जो गलतियाँ हो गई हैं, उनको मैं अपनी चेतना में बहुत सोच समझ कर, वाहर निकालने के पक्ष में नहीं हुं। खोद खोद कर सैद्धान्तिक विरोधों का, और पारस्परिक विरोधी वातों का विस्तार पूर्वक विश्लेषण करके दिखलाने की वेवकूफी नहीं भी करूंगा। 'रक्तचंदन' को लिखते समय स्वयं कवि के दिमाग़ में भी जो वातें नहीं थी, उन्हीं की ओर संकेत करके उनको वढ़ा चढ़ा कर कहना, मूर्खता ही तो होगी। शर्मा साहव भी सोचेंगे–'अच्छा उल्लू' वनाया !

एक वात और कि किसी भी गहरी और अच्छी रचना में कुछ छिपी हुई बुराई हो तो उसे वाहर निकाल कर दिखलाया भी जा सकता है। छिपी हुई अच्छाई और छिपी हुई बुराई को वाहर खींच लाकर एकदम से पाठकों की आँखों के सामने स्पष्ट रख देने ही का नाम आलोचना है–यही तो है आलोचना का प्रमुख विषय। उसकी आलोचना करने और पढ़ने में भी आनन्द आता है। हर प्रकाशित होने वाली पुस्तक आलोचना के योग्य नहीं होती। हजारों में कुछ ही लेखक ऐसे होते हैं–जिनकी आलोचना करना अनिवार्य हो जाता है।

रक्तचंदन का लेखक आने वाले सौ वर्षों में भी ऐसी पुस्तक नहीं लिख सकता जो कि आलोचना के योग्य हो। इस तरह के लेखकों की किताबों से न

उलझ कर स्वयं उनसे ही हाथों हाथ निपट लिया जाय तो उनके लिये वही सच्ची आलोचना होगी। पर आज के युग में पलने वाला मन इस तरह की 'हाथा पाई' की साक्षी नहीं देता !

नहीं तो मेरे एक कसरती साथी बद्रीदान ने कहा था कि यार विज्जी क्यों व्यर्थ की मगज पच्ची से उलझ रहे हो—इस तरह के लेखकों को तो बाल पकड़ कर दस बीस तमाचे रसीद कर दिये जाँय—तो वह सबसे बहतरीन आलोचना होगी।
उसके इस कथन से पूर्णतया सहमत होने पर भी मैं अपने हाथ के द्वारा इस तरह के कार्य लेने को शोभनीय नहीं समझता।

पर साथ में एक कौवे को किस स्थान विशेष पर यह बतलाया जाय कि वह यहाँ से काला है और यहाँ से काला नहीं। इसी तरह इन कविताओं के प्रत्येक शब्द में स्पष्ट रूप से उभरी बुराई को किस जगह से बतलाया जाय कि वह यहाँ से बुरी है—और यहाँ से बुरी नहीं। ये कविताएँ अपने आप ही आलोचना का काम पूरा कर रही हैं—इन्होंने अपने आप ही अपनी बुराइयों को सामने बिछा कर रख दिया है—मैं तो केवल उनका समर्थन भर ही कर रहा हूँ कि जिससे प्रस्ताव पास हो जाये।

*

भारत की राजधानी दिल्ली के बारे में भी शर्मा साहब ने एक छोटी-सी कविता लिखी है। कोई एक दो कविताओं से तो पुस्तक तैयार होने से रही जैसे तैसे भी उनकी संख्या बढ़ाना नितांत अनिवार्य हो जाता है। पृष्ठों के बन्धन की बाध्यता, बिना प्रेरणा के भी कविताएँ लिखवा लेती हैं। 'रक्त-चन्दन' में चन्दन का लोभ देकर वे जितना भी मैला भर सके—इन्होंने भरा है—पर फिर भी 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' का सा बड़ा आकार बनाने की उनसे भूल नहीं भी हो पाई !

नभ तिरंग चक्र ध्वज रंजित,
इन्द्र प्रस्थ अपनी रजधानी।
वृद्ध पितामह मृत्युंजय के,
वध की जो अमिट निशानी।

राष्ट्र पिता की गौरव-गाथा,
बच्चों के पापों की पोथी ।
हिन्दु कभी न भूल सकेंगे,
दिल्ली एक कलंक कहानी ।

एक मात्रा बढ़ जाने के दोष से, 'राजधानी' को 'रज-धानी' का विकृत रूप धारण करना पड़ा, इस तरह की छोटी-छोटी बातों की जवाब देही करते हुए-मुझे स्वयं ही को लज्जा आती है ! पर कुछ भी हो केवल एक मात्रा के घटने से 'रक्तचन्दन' में कविता की संख्या तो बढ़ी ही है—सौदा मंहगा तो नहीं रहा ।

और बापू की मृत्यु के लिये दिल्ली को कोसना, यह कहाँ तक संगत है ? अपनी-अपनी न्याय धारणा और अपनी-अपनी तार्किक बुद्धि है—चाहे उसे किसी भी तरह से काम में लें। यह तो एक ऐसी ही बात हुई कि जिस तलवार से मनुष्य के टुकड़े-टुकड़े किये गये, उस आदमी को दोषी न ठहरा कर, उस तलवार ही के टुकड़े-टुकड़े करके नष्ट कर दिया जाय । बड़ा अच्छा तर्क है-यदि वह तलवार ही नहीं होती तो फिर वह क्यों कर उसका वध कर पाता ? सो यदि दिल्ली भी नहीं होती तो बापू फिर मरते ही कहाँ—कोई आगरे या बम्बई में तो मरने से रहे—इसलिये यह सारा दोष इस दिल्ली नाम की राजधानी ही का है ।

कविता छोटी ही हुई तो क्या—शेष पृष्ठ को खाली भी तो छोड़ दिया गया है । आठ की जगह यदि बीस पंक्तियाँ भी हो जाती–तो क्या हित कर हो जाता–कोई दो पृष्ठ तो भरने से रहे । मेहनत भी कम हुई–और पृष्ठ पूरा का पूरा गिना गया ।

कम से कम, आधी कविताएँ इसी तरह की हैं । चार–छः पंक्तियों ही के बाद नया पृष्ठ काम में लाया गया है–अन्यथा फिर सतत्तर पृष्ठ भी कैसे हो पाते, और उस पर दो रुपया कीमत भी तो रखनी थी !

शर्मा साहब को यह मालूम होना चाहिये कि केवल लिखी हुई पंक्तियां पर ही कीमत रखी जाती है–खाली पृष्ठों पर नहीं । खाली पृष्ठ तो बारह आने में चार सौ मिलते हैं–कटे कटाये और वह भी सजिल्द ! किताब में

'मसाला' चाहिये--लाल लाल लकीरें खींच कर बड़े बड़े मार्जिन छोड़ने से काम नहीं चलता। और इस बात के लिये सारा का सारा दोषी केवल प्रकाशक ही नहीं, थोड़े अंश में स्वयं लेखक भी ठहरता है। दोनों का यह संयुक्त अपराध है। 'रक्तचंदन' की इन्हीं कविताओं से सतत्तर ही क्यों तीन सौ पांच पृष्ठ भी भरे जा सकते थे, और उसकी कीमत दो रुपये के स्थान पर बाटा के जूतों की तरह छः रुपये पंद्रह आने भी तो हो सकती थी !

इस तरह की किताबों में भावों की बार बार पुनरावृत्ति तो होना स्वाभाविक ही है। जब कहने को कुछ नहीं होता तो फिर उसी एक बात को तरह तरह के शब्दों का पहिनावा पहिना कर अलंकृत करने की निष्फल चेष्टा के अन्यथा और मार्ग ही क्या रह जाता है? सो यह पुनरुक्ति दोष तो इस तरह की कृतियों की आधार शिला है—फिर उस पर क्या टीका टिप्पणी की जाय?

रक्त चंदन की एक कविता म 'कबीर वाणी' शीर्षक के प्रारम्भ में ही शर्मा जी लिखते हैं—[हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई]

और इसी बहाने हमने भी शर्मा जी की निशर्माई देख ली—कि वे किस सीमा तक वे शरम हो सकते हैं—जिसके प्रमाण स्वरूप 'रक्त चंदन' को पेश किया जा सकता है।

मैं तो इसे अपना दुर्भाग्य मानता ही हूँ कि मैंने इस रक्त चंदन को पूरा का पूरा पढ़ा, पर आप एक ही कविता को पूरी पढ़ कर अपरोक्ष रूप से मेरे दुर्भाग्य में थोड़ा बहुत हिस्सा तो बटाइये। शर्मा जी की एक 'अलिखित गीत' नाम की कविता को इसी कारण पूरा का पूरा उद्धत कर रहा हूँ—और आपको इसे शुरू से अंत तक पढ़ना ही पड़ेगा —

तुंग हिमाद्रि समान,
आज दिक्काल परिधि के पार,
शोभित हो तुम वहाँ,
जहाँ पहुँचे न शब्द झंकार!
अपने अलिखित गीत,
अनाघृत पुष्पों से इस हेतु!
अर्पित करता हूँ—
अंजलि दे सादर बारंबार!
लिखित गीतों में नहीं,
अलख के गुण गाने की शक्ति,

प्रकट हुई—तो हुई,
संकुचित अंतर—तम की भक्ति !
जो अबंध है उसे,
छंद के प्रति कैसी अनुरक्ति !
अलिखित स्वर लिपि की,
झंकृति ही, करो देव स्वीकार !

इस कविता को पढ़ते ही मुझे एक किस्सा याद आया—बंबई का। कोई चार पाँच साल पहले—मैं और सत्य प्रकाश भरत व्यास जी से बंबई में उन्हीं के मकान पर मिले थे। थोड़ी देर की बात चीत के बाद कविता का भी आदान प्रदान हुआ। सबसे पहले सत्तू ही ने कविताएँ सुनाईं—उनको सुन कर व्यास जी ने अपने श्री मुख से फरमाया कि मुझे कविता बनाने से अब चिढ़ हो गई है—और इसी विषय ही को लेकर उन्होंने एक कविता बनाई थी। उसकी पहली तीन चार पंक्तियों के सिवाय मुझे वह बिलकुल याद नहीं है। शायद किसी पुस्तक में यह कविता छप भी चुकी है।

कविराजा कविता करना छोड़ो,
मत कविता के कान मरोड़ो,
धंधे की कुछ बात करो,
रुपया जोड़ो — पैसा जोड़ो !

कविता समाप्त होने पर उन्होंने राय जाननी चाही कि कविता हमें कैसी ? जैसा कि प्रत्येक कवि को यह जानने की बीमारी होती है। उस समय ने केवल इतना ही कहा था कि कवियों को उपदेश दिया गया है कि वे [illegible] की बात करें, और कविता की बात न करें तो अच्छा हो, व्यर्थ में उसके कान ऐंठने से क्या मतलब ? पर यह उपदेश भी कोई गद्य में नहीं कविता ही में था। जब खुद उपदेश देने वाला भी कविता ही में बात करता है, उसके कान मरोड़ता है, तो उस सत्य वचन का सुनने वाले कवियों पर क्या असर होगा—सो तो आप जान ही सकते हैं !

उन्हें कविता से चिढ़ है, और अपनी उस चिढ़ को जतलाने के लिये उन्हें कविता ही का सहारा लेना पड़ा !

विचारों और कर्म के इस विरोधाभास को, मैं एक बहुत बड़ा दोष ही नहीं, एक भारी अपराध भी समझता हूँ ।

ठीक यही विरोधाभास हमें शर्मा जी के इस 'अलिखित' गीत में भी मिलता है ।

लिखित रूप में रक्तचंदन के नाम से पूरी की पूरी पुस्तक तैयार करने के बाद वे अंत में कहते हैं कि जो बापू बंधनों से रहित हैं, उनको छंदों के बंधन से क्या आसक्ति होगी ? और मजे की बात यह कि इसी बात को कहने के लिये इन्हें छंद का प्रयोग करना पड़ा । अपने देवता को अलिखित स्वर लिपी ही की झंकार स्वीकार करने के लिये अनुनय निवेदन किया गया है—सतत्तर पृष्ठों की लिखित भाषा के द्वारा । आँखों के सामने रखे हुए, इन लिखित गीतों को क्योंकर अलिखित गीत मानलें । आँखें बंद कर लेने पर भी उसका अस्तित्व तो मिट नहीं जायेगा । यह आत्म वंचना हर समझदार व्यक्ति को अखरनी चाहिये, पर हिन्दी के कवियों को समझ जैसी तुच्छ वस्तु से क्या वास्ता ? वे तो कवि हैं—कवि, जहाँ रवि की भी पहुँच नहीं !

*

पछतावा ही पछतावा है
अन्तः करण जल रहा है !

यों तो ये पंक्तियाँ शर्माजी ने बापू ही को लक्ष्य करके लिखी हैं कि उनकी मृत्यु के कारण उन्हें वास्तव ही में पछतावा हो रहा है—और उनका अन्तः करण बहुत बुरी तरह से जल रहा है।

पर मजाक के तौर पर इन पंक्तियों का इस माने में मतलब निकाला जाय तो ज्यादा अच्छा रहेगा कि पन्त और बच्चन की किताबें 'रक्त चंदन' के पहले प्रकाशित होकर बाजार में आ गईं—यदि वे उनसे कुछ पहिले सँभल जाते तो ज्यादा लाभ प्रद रहता। पर बीते हुए समय को पकड़ रखना यह किसके वश की बात है ? अब तो उस हानि पर केवल पछतावा ही किया जा सकता है। 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' को देख कर शर्मा जी का अन्तःकरण नहीं जलेगा—तो क्या हथेलियाँ जलेंगी ? दो व्यवसायियों में इसी तरह ईर्ष्या और जलन हुआ करती है—इसमें शर्माजी का कोई दोष नहीं।

इन पंक्तियों का एक दूसरा पहलू भी है—कि लाख प्रयत्न करने पर भी जब कवि रक्त चन्दन की कविताओं के द्वारा अपने जले हुए अन्तकरण को व्यक्त नहीं कर सका तो बिचारे ने आखिर स्वयं अपने मुँह से कहकर ही बतला दिया कि उसका अन्तः करण जल रहा है। कविताएँ खुद अपने आप बोल कर नहीं कहतीं कि कवि को गांधी जी की मृत्यु पर कितना पछतावा हुआ, तो कवि ने स्वयं अपने मुँह से बतला दिया कि उसे पछतावा हो रहा है !

जैसे नाटक में काम करने वाला कोई नायक रोने का अभिनय करने में अक्षम होने के कारण, दर्शकों को मुँह से बोल कर कह दे कि देखिये साहब अभी मैं इस समय रो रहा हूँ—देखिये मेरी आंखों में आंसू की धारा बह रही है—हो सकता है कि उस समय उसके अधरों पर मुस्कराहट की स्मित रेखा ही हो ! पर जब वह अपने मुँह से कह कर स्वीकार कर रहा है, तो दर्शकों को उसकी बात पर विश्वास कर लेना चाहिये। मनुष्य की बात पर मनुष्य विश्वास नहीं करेगा तो क्या गधे और बैल करेंगे ?

रोने का अभिनय न कर सका तो ऐसी कोई वात नहीं—उसने मुँह से कह कर जो वतला दिया है ! अभिनय के द्वारा जो वात जाननी थी—वह नायक के मुँह की स्वीकृति ही के द्वारा जान ली गई—क्या अन्तर पड़ा ? दोनों एक ही तो वात हुई—चाहे इधर से कान पकड़ो चाहे उधर से, हाथ में आयेगा तो कान ही कोई और वस्तु तो नहीं। किसी भी राह से पहुँचिये, जाना तो उसी एक मंजिल पर है। कविताओं द्वारा न जान कर यदि हम कवि के मुँह से ही जान गये कि उसे पछतावा हो रहा है, और उसका अन्तर फूस की आग के समान जल रहा है—तो ऐसी कौन सी हानि हो गई ?

भारतवर्ष में जो कला के 'व्यवसायी' और 'व्यापारी' हैं उन्हें यह वात किसी भी भाषा के सहारे नहीं समझाई जा सकती, इसलिये समझाने की निष्फल चेष्टा करने से क्या मतलव ? और जो इस वात के तथ्य को समझते हैं, उनके लिये कुछ भी वैसी वात लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

तो रक्तचंदन को पढ़कर ऐसा नहीं लगता, पर जव शर्मा जी कह रहे हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उन्हें पछतावा हो रहा है—उनका अन्तः करण जल रहा है। साक्षी के रूप में उनके ही अपने हाथों द्वारा लिखे गये छापे के काले काले अक्षर जो हैं—छापे के अक्षर भी क्या कभी झूठ हो सकते हैं ?

पछतावा ही पछतावा है—
अन्तः करण जल रहा है !

छापे की लिखावट के सामने आखिर पराजित होना ही पड़ा, पिछले सारे वाद-विवाद को एकदम से झुक जाना ही पड़ा। अन्त में जीत नरेन्द्र शर्मा ही की हुई, पर मुझे अपनी इस हार पर भी अभिमान है; और चाहूँगा कि शर्मा साहव को अपनी इस अप्रत्याशित जीत पर भी इतनी अधिक लज्जा होनी चाहिये कि वे भविष्य में कविता के रूप में एक पंक्ति भी न लिखने का दृढ़ संकल्प करलें। रक्त चंदन के रूप में उन्होंने जो अपराध किया है—उसी की केवल यही एकमात्र न्याय संगत सजा है ! अपराध करना अपने आप में इतना वुरा नहीं है, जितना उस अपराध पर मिली हुई सजा से डरना !

ये आप ही के आराध्य देव, वापू जी के कहे हुए शब्द हैं—शर्मा साहव ! आप इन्हें मानें या न मानें, यह आपकी इच्छा पर, नहीं—नहीं आपकी समझदारी ही पर निर्भर करता है !

● एक बार उसने बंगाल के अकाल की हजारों लाशों के साथ व्यापार करके देखा, और उससे लाभ हुआ तो उसने गाँधी जी की घायल लाश के साथ भी व्यापार कर दिया ! यदि उसकी इस व्यवसायिक दुष्प्रवृत्ति को यहीं रोक दिया न जायेगा तो बहुत संभव है शायद वह सारे समाज तक को हलाहल देने का दुस्साहस न कर बैठे ?

★

● काच की बोतल के भीतर छलछलाते हुए शराब से गाँधी जी का खून कहीं ज्यादा गाढ़ा और अधिक लाल था, पर उसकी ललाई पर बच्चन से एक पंक्ति भी ठीक नहीं लिखी गई; और जहाँ उसने शराब की उस ललाई पर सैकड़ों गीत लिख मारे—जो इन खादी के फूलों और सूत की मालाओं से लाख गुना अच्छे हैं ! गाँधी जी की छाती पर लगी हुई, पिस्तोल के उन तीन धड़ाकों की आवाज, मधुबाला के पायलों की रुनझुन क्वणन ध्वनि से कहीं अधिक तेज़ और अधिक प्रेरणा देने वाली थी, पर जिस सफलता के साथ उसने मधुबाला की रुनझुन का वर्णन किया है, उसका एक हजारवाँ हिस्सा भी उस पिस्तोल की आवाज के वर्णन करने में वह नहीं भर सका !

★

● सच है कि बापू के मरने की खबर सुनकर बहुत सारे व्यक्ति एकदम से रो पड़े थे। राजरानी, राजदुलारी, सुशीला, सुजाता, सुभ्राता, सुमित्रा, सावित्री और ऊषा पाठक तो बिस्तर पर औंधी लेट कर तीन चार घंटे तक रोई थीं, पर बापू के नाम पर निकले उन आँसुओं को शीशी में बंद करके उन्हें किसी ने भी बाजार में बेचने की कोशिश तो नहीं की !

★

● माना कि बापू की मृत्यु के कारण 'विवश' (जैसा कि वे स्वयं कहते हैं) होकर बच्चन को ये कविताएँ लिखनी पड़ीं, पर लिख कर उन्हें प्रकाशित करवाना ही होगा—यह तो कोई जरूरी नहीं था ! उन्हें फाड़ कर रद्दी की टोकरी में भी तो डाला जा सकता था !

मान लीजिये कि एक लड़का है—रमेश ! और वह दसवीं कक्षा के बोर्ड की परीक्षा में सर्व प्रथम रहा। सैकड़ों विद्यार्थियों में उसका नंबर अव्वल रहा, इसलिये वह अवश्य बधाई और प्रशंसा का पात्र है। पर यदि वह इंटर की परीक्षा के एक भी परचे का ठीक से उत्तर नहीं दे पाता, तो निश्चित रूप से वह फेल ही होगा—पास नहीं। पिछली परीक्षा का वह स्वर्ण पदक उसे पास होने में कुछ भी सहायता नहीं करेगा।

अब थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि उस व्यक्ति का नाम रमेश नहीं—बच्चन है ! जिस दाहिने हाथ से किसी समय उसने 'मधुकलश' और 'निशा निमंत्रण' के अतुलनीय गीत लिखे थे, उसी दाहिने हाथ से उसने 'बंगाल का काल' 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' जैसी निकृष्टतम रचनाओं को लिखकर, केवल मूर्खता ही नहीं भारी अपराध भी किया है—और जिसकी सजा और 'मधुकलश' की प्रशंसा में कोई भी पारस्परिक समझौता नहीं हो सकता !

जिस प्रकार कि एक क़ातिल न्यायाधीश के सामने यह बात कहे कि जिस व्यक्ति को उसने आज जहर देकर मारा है—उसे पांच दिन पहिले मरने से बचाया भी उसी ने था, या उसे भर पेट मिठाई खिलाई थी। न्यायाधीश की दृष्टि में न तो उस दिन का बचाना ही कुछ माने रखता है—और न भर पेट मिठाई खिलाना ही। वह तो केवल एक बात ही जानता है कि इसी क़ातिल के हाथों जहर दिये जाने पर ही इस व्यक्ति की मृत्यु हुई है। प्राण दंड या आजन्म कारावास दोनों में से एक सजा तो उसे मिलेगी ही।

मैं जगत के वास्ते,
अभिशाप हूँ, वरदान भी हूँ,
छा गया अभिशाप लेकिन,
छिप गया वरदान मेरा !

मधुकलश की इन पंक्तियों को कभी, इस रूप में उदाहरण देकर मुझे पेश करना पड़ेगा, उस दिन इस बात की सोते हुए भी कल्पना नहीं की थी कि उस के अभिशाप की वह सीमा आज दिन यहाँ तक बढ़ गई है ! उस दिन का वह कल्पित अभिशाप आज वास्तविक रूप में परिवर्तित होकर यहाँ तक अहित कर हो सकता है ?

'निशा-निमंत्रण' पढ़ने के बाद कवि से यह आश्वासन मिल गया था कि इसके हाथों हिन्दी साहित्य का अहित नहीं होगा। उसे कविता लिखना आता है, उसे कविता लिखने का अधिकार है 'निशा-निमंत्रण' के बाद और किसी भी अन्य प्रमाण पत्र की आवश्यकता ही नहीं रही थी। स्वयं हिन्दी साहित्य को उससे कुछ आशा होने लग गई थी। एक कवि या लेखक के लिए इससे बढ़कर और क्या मान्यता हो सकती है कि उसका साहित्य उससे आशा करे।

काव्य के उस पथ पर आगे बढ़ने के लिये बच्चन ने इतना अच्छा उठाव लिया था, इतना अच्छा आरंभ किया था कि उसके अन्त की कल्पना से तो उस दिन ही गर्व और अभिमान होने लग गया था।

'निशा-निमंत्रण' के बाद 'एकांत-संगीत' के गीत लिख कर हिन्दी साहित्य को यह सूचित कर दिया गया था कि वह उसी पथ पर चल रहा है – उसमें गति है। समाचार के रूप में भी वह बात काफी अच्छी थी। आशा में वृद्धि भले ही न हुई हो – पर वह टूटी नहीं थी। और नहीं तो कम से कम यह तो विश्वास हो गया था कि 'निशा-निमंत्रण' ही में कवि की सारी पूंजी समाप्त नहीं हो गई – उसके पास और भी पूंजी बची हुई है।

नर-नारी से भरे जगत में
कवि का हृदय अकेला !

सैद्धान्तिक रूप से मत भेद होने पर भी, उसकी इन कविताओं को केवल इसी लिये मान्यता देनी पड़ी थी कि कोई बात नहीं अभी कवि जो कुछ भी

लिख रहा है, उसे सम्मान पूर्वक सिर आँखों पर स्वीकार कर लिया जाय; क्योंकि भविष्य में अच्छी कविताएँ लिखने के लिये यह एक बहुत अच्छा प्रयास है। किसी भी विषय पर, किन्हीं भी भावों पर, किन्हीं भी सिद्धान्तों पर, इसे स्वतंत्रता पूर्वक अपनी लेखनी परिष्कृत करने दो, पहिले उसे अच्छी कविता करना सीख जाने तो दो, फिर सिद्धांत और विषय का परिवर्तन कोई मुश्किल बात नहीं होगी ! जिस लेखनी में ताकत है—वह किसी भी विषय पर कविता कर सकती है।

'मधु-कलश' तक पहुँचते पहुँचते लेखक को, अपनी लेखनी पर अधिकार, और पाठकों को उस लेखनी के थामने वाले हाथों पर इतना अधिक विश्वास हो गया था कि उसके लिये फिर और अधिक प्रयास करने की कोई भी आवश्यकता नहीं जान पड़ी। 'कवि' के रूप में संबोधित कर सकने का वह पूर्ण रूप से अधिकारी हो गया था। अपने मन की बात को व्यक्त करने के कौशल के लिये अब और कुछ भी बात शेष नहीं रह गई थी। गंभीर से गंभीर विषय, सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को इतने सहज और साधारण भाव से पूर्ण सफलता के साथ लिख कर, बच्चन ने अपरोक्ष रूप से संसार के समग्र साहित्यकों को मानो यह चुनौति दे डाली थी कि 'मधुकलश' की अधिकांश कविताओं को, साहित्य के किसी भी अंग द्वारा, न कहानी में, न नाटक में, और न सात सौ पृष्ठों के उपन्यास में, दूसरा रूप देकर व्यक्त किया जा सकता है !

है न यह व्यक्तित्व मेरा,
जिस तरफ मेरा कदम हो।
उस तरफ जाना जगत के,
वास्ते कल से नियम हो।

औलिया आचार्य बनने की,
नहीं अभिलाष मेरी,

किस लिये संसार तुम को,
देख मेरी चाल भ्रम हो !

जो चले युग युग चरण ध्रुव,
पर मिटे पद-चिह्न उनके,

पद प्रकंपित, हाय अंकित,
क्या करेंगे दो प्रहर में !

हैं कुपथ पर पाँव मेरे,
आज दुनियाँ की नजर में !

केमरे की विशेषता यह नहीं है कि वह कुरूप मनुष्य को भी सुन्दर वनादे। जो कुछ भी सामने होता है, उसको उसी रूप में पूर्ण सफलता पूर्वक यों का यों चित्रित कर दे-उसकी यही विशेषता है ! एक हब्शी की आँखों को भी वह उसका चित्र वना कर दिखला देगा कि, देखो भाई, तुम्हारे शरीर की वनावट इस प्रकार की है; तुम्हारे मुँह का रंग और उसकी आकृति विलकुल यही है—जो तुम देख रहे हो। और काश्मीर की सोलह वर्षीय रूपसि का सुंदर मुखड़ा भी उसकी आँखों के सामने रख देगा ? हब्शी नाराज हो तो उसकी वला से और वह सुंदरि खुश हो तो उसकी वला से; उसे कुछ भी वैसा वास्ता नहीं है !

केवल भाषा में लिखने मात्र ही से, वह मन की बात नहीं हो जाती ! हजारों में केवल एकाध लेखक ही ऐसे होते हैं, कि जिनका लिखा हुआ उनके मन की वात के अनुरूप होता है।

और वच्चन ने सहज में इस वात को ग्रहण कर लिया था; अपने मन की यों की यों फोटोग्राफी करके, उसने कविता के रूप में उसे उतार लिया था ! कोमल कांत पदावली के द्वारा उसने उनका शृंगार नहीं भी किया, जो जिस रूप में था, वह उसी रूप में वाहर प्रगट हो गया।

अल्पतम इच्छा यहाँ
मेरी वनी बंदी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे,
विश्व कारागार मेरा !

और—

देख भीगे होठ मेरे
और कुछ संदेह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का,
है लगा मेरे अधर में !

और भी—

हाथ ले बुझती मशालें-
जग चला मुझको जलाने,
जल उठीं छूकर मुझे वे,
धन्य अन्तर्दाह मेरी !

सैद्धान्तिक रूप में 'मधु-कलश' की सारी रचनाएँ भी आलोचना का अच्छा खासा विषय हो सकती है; पर उसके मन की उस फोटो ग्राफी को केवल इसी लोभ वश मान्यता दे दी गई थी कि जरूरत पड़ने पर वह किसी दिन समाज के काम आ सकेगा—इसीलिये समाज ने उसकी कला का सम्मान किया था ।

कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ !

इस तरह की कविताओं को भी केवल पढ़ कर ही नहीं छोड़ दिया उन्हें कंठस्थ भी कर लिया था ।

'आकुल-अंतर' में बहुत सारी बुराइयों के बावजूद भी उसकी उपेक्षा इसी लिये कर दी गई थी कि जिस चौराहे पर से उसने नये मार्ग पर पैर रखा है, उसका चुनाव कुछ अवश्य श्रेयस्कर था ! 'एकांत-संगीत' में अपने ही हाथों लिखी उस बात को भुला कर कि नर नारी से भरे हुए इस संसार में कवि का हृदय बिलकुल अकेला है, उसने यह पंक्ति लिखने में तनिक भी झिझक या संकोच प्रगट नहीं किया—'तू एकाकी तो गुनहगार !'

'आकुल-अंतर' में उसका पथ थोड़ा बहुत बदल गया था—पर उसके पाँवों की गति बहुत कुछ पहिले ही के समान थी । पर्वत पर चढ़ने की गति, और ढलाई में उतरने की गति, कभी एक सी नहीं रहनी चाहिये !

लेकिन फिर भी 'आकुल-अंतर' के रूप में नये पथ की उन निर्बल कविताओं पर आक्रोश प्रगट नहीं किया गया, उदासीनता तो स्वाभाविक ही थी !

'विकल-विश्व' को भी मन मार कर सह लेना पड़ा । पर 'सतरंगिनी' को पढ़ने के पश्चात इसमें कोई संशय नहीं रहा कि कवि ने सर्व प्रथम जो विश्वास

दिलाया था, वह उसका निवाह नहीं कर रहा है। वह केवल उसे भूल ही नहीं गया, पर जान कर हमारे साथ विश्वास घात कर रहा है। और विश्वास-घात भी ऐसा कि जिसका प्रतिकार लेना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो गया था। लेकिन इस विश्वास घात की जवाव देही के लिये ज्यों ही ओंठ खोलने चाहे, उस वीच में पड़ गया—वंगाल का काल, जिसकी भयावह विभीषिका के कारण उस जवाव देही को स्थगित करना पड़ा। और इसी विभीषिका से संवंधित जव वच्चन के हाथों लिखी हुई 'वंगाल का अकाल' हमारे हाथ लगी, तो क्षण भर के लिए उसके समूचे विश्वासघात को विस्मृत करके, उसके नाम की मुहर का पहिले ही की तरह सम्मान किया।

पर उस छोटी सी किताव को पढ़ने के वाद इतनी जवरदस्त प्रतिक्रिया हुई कि एक पल भर में उसके द्वारा किये गये षडयंत्र का क्रम अच्छी तरह से समझ में आ गया। किताव समाप्त करते ही भारतवर्ष के 'ताज़ीरात-हिन्द' में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता जान पड़ी। दफा तीन सौ दो में, कुछ इस प्रकार की वृद्धि की जाय कि जिससे इस तरह के लेखकों के लिये भी विना किसी सुनवाई व गवाही के एकदम से फाँसी पर चढ़ाने की सुव्यवस्था हो जाय!

उदाहरण के रूप में यदि कुछ अंश उद्धत करने की कोशिश भी की जाय, तो यह अनुसंधान करना मुश्किल हो जाता है कि कौन सी पंक्तियाँ सवसे खराव हैं; सारी की सारी किताव को यों का यों उद्धत किया जाय तो कहीं कुछ वात वैठे। दो-दो शब्दों की पंक्ति के भिन्न तुकांत चरण वना कर, मुश्किल से आध घंटे की मेहनत के वाद, कवि ने प्रकाशक के हाथों किताव सौंप दी होगी। इस हाथ से किताव दी और उस हाथ में पैसे लेकर अपने घर की राह ली होगी।

वंगाल के काल में, मरी हुई लाशों का व्यापार किया गया — उनके भूखे पेटों की दुहाई देकर, अपना और अपने वच्चों का पेट भरने की व्यवस्था की गई।

पड़ गया वंगाले में काल,
भरी कंकालों से धरती,
भरी कंगालों से धरती!

उन भयावने कंकालों को देख कर, कहीं कहीं कवि ने अनुप्रास अलंकार से भी उन्हें विभूषित करने की चेष्टा की है!

भूख भवानी भयावनी है।

'निशा-निमंत्रण' के रूप में अपनी पत्नि की प्राकृतिक मृत्यु पर जिस सुन्दरता के साथ कवि ने सौ गीतों में रोना रोया था, और इधर बंगाल में भूख से मरने वाले हजारों व्यक्तियों की असमय में होने वाली उस अकाल मृत्यु की काली छाया के लिये वह एक पंक्ति भी वैसी नहीं लिख सका !

'नर नारी से भरे जगत में, कवि का हृदय अकेला'

क्या इस पंक्ति की सत्यता इस तरह आँखों के सामने ही आनी थी। कवि का वह एकांत वास समाज के लिये इतना अधिक अभिशाप बनकर उसकी छाती पर आ धमकने की कोशिश करेगा, उन दिनों इन पंक्तियों का यह अर्थ तो कभी समझ में नहीं आया था। कवि के इस अंधे पन की कल्पना का तो उस दिन रंचमात्र भी आभास नहीं मिल पाया था कि वह इन तड़फती लाखों लाशों को भी नहीं देख सकेगा, अगर देख सकता, तो वह बंगाल के काल में उन मरे हुओं को दुबारा मारने की इस तरह कुचेष्टा नहीं करता !

अपने अधिकारों पर लड़ते
अगर मरे तुम, खून तुम्हारा
कवि की कलमों से लिख देगा
अमर कथा वह बलिदानों की
जिसको पढ़कर, जिसको सुनकर
मुर्दों में जीवन आयेगा
जिन्दों में यौवन आयेगा

किन्तु मरे यदि मानवता खो
और सुना इस तरह लाख हा
कढ़िल कढ़िल कर मौत पा चुके
तो अपने को धन्यवाद दो
क्योंकि चील, कौओं, स्यारों के
भोजन के तुम योग्य हो सके

सुनकर तुम दुर्भिक्ष निपीड़ित
हुआ द्रवित है सारा भारत

जगह जगह पर फंड खुले हैं
जगह जगह चंदा होता है
कर मुशायरा कवि सम्मेलन
नाटक, मैच नुमायश, नर्त्तन
लोग इकट्ठा धन करते हैं
और तुम्हें पहुँचाते रहते
पर विश्वास अटल है मेरा,
कुछ न बनेगा इन चंदों से।

यह बात कोई कवि को अपने हाथ से लिखकर बतलाने की नहीं है कि इस कविता को पढ़कर उनके जीवन में यौवन आयेगा—या मुर्दों में जीवन आयेगा। यह बात तो उस कविता की पंक्तियों को स्वयं मुखरित होकर कहनी थी, तब पाठक स्वयं उसकी उस बोली को समझ लेते। यह है बंगाल के काल पर लिखी गई कविताओं का सबसे अच्छा भाग—जो अपने आप में तो निकृष्ट कोटि का है ही।

'आकुल-अंतर', 'विकल-विश्व', 'सतरंगिनी', 'निशा-निमंत्रण', 'मधुबाला' और 'एकांत-संगीत' जैसे बे बात के विषयों पर जहाँ कवि ने सैकड़ों गीत लिख डाले, जिस बात को एक वाक्य में कह कर पूरा किया जा सकता था, उसी को अभिव्यंजना देकर उसने सौ गीतों तक खींच मारा; और कहाँ बंगाल के काल जैसे विषय पर हजारों गीत सहज ही में लिखे जा सकते थे—उस पर दो दो तीन तीन शब्दों की पंक्तियाँ जोड़ जोड़ कर, उन्हें दोहरा दोहरा कर मुशकिल से चौंसठ पृष्ठ भर सकने में बच्चन के हाथ समर्थ हो सके हैं! और उसमें भी आधे से अधिक अंश पेरिस के अकाल के वर्णन में देना पड़ गया! बंगाल के काल की बात तो जैसे तैसे करके तीस पृष्ठों तक बड़ी कठिनाई के साथ खींची गई है!

नहीं यकीन तुम्हें आता है
नहीं सुनाई तुम्हें किसी ने
कभी फ्रांस की क्रांति अभी तक

और यह अच्छा सा बहाना बना कर बच्चन ने फ्रांस की क्रांति को इस कदर जोरों से सुनाना आरंभ कर दिया कि 'बंगाल का काल' समाप्त भी हो गई।

और फिर समझदारी करके सूई का टाँका देकर दोनों कालों को जोड़ने की निष्फल चेष्टा तो अवश्य उन्होंने कर ही दी, चाहे वे टाँके स्थायी रहें—या नहीं भी रहें; और बंगाल के काल को लेकर कवि का कर्त्तव्य समाप्त हो गया।

मज़े की बात यह कि बंगाल के जिन अकाल पीड़ितों के रक्त में डुबो डुबो कर, जैसा कि वे कहते हैं, उन्होंने यह कविता पुस्तक लिखी, उसी के कुछ दिन बाद ही उन्होंने उसी लेखनी से फिर वे ही पुरानी बातें वापिस लिखनी आरंभ कर दीं—पपीहा कहता पी कहाँ! और उस कविता संग्रह का नाम रखा गया—'सतरंगिनी'।

कहाँ तो एक सच्चे और ईमानदार कवि की, उस काल के बाद विचार धारा एक दम से बदल ही जानी चाहिये थी, और कहाँ उन लाशों पर से आँखें हटते ही वे फिर सप्तरंगों की आभा में एक और नई प्रेमिका खोजने में लग गये!

'—रोटी—रोटी—' चिल्लाती हुई उन अगणित लाशों के क्रंदन की समवेत ध्वनि सुनकर भी वह उनको पाँवों से रोंधता हुआ निर्विकार भाव से आगे बढ़ गया। सहसा एक जगह रुक जाने पर उसने आकाश की ओर गरदन उठाते हुए, उस रुकने का केवल यही कारण बतलाया:—

इसी लिये खड़ा रहा कि—
तुम मुझे पुकार लो!

कहाँ मनुष्य है जिसे—
कमी खली न प्यार की—

इसी लिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो!

उन भूखे पेटों के बीच खड़े हुए उस कवि को केवल प्यार ही की कमी खली, और उन चीखों की उपेक्षा करते हुए वह केवल इसीलिये रुक कर खड़ा रहा कि कोई उसे प्यार से पुकार ले। क्या भविष्य के इसी गहनतम अपराध की सफाई देते हुए उसने एक दिन इस पंक्ति की सर्जना की थी—

२५९

नर नारी से भरे जगत में—
कवि का हृदय अकेला!

इसी विश्वास घात की पृष्ठ भूमि क्या उसने इसी दिन के लिये बहुत पहिले ही से तैयार कर रखी थीं :—

भावनाओं से विनिर्मित-
और ही संसार कवि का।

ये पंक्तियाँ इस रूप में घातक सिद्ध होंगी, यदि उस दिन ही यह पता लग जाता तो आज दिन तक उस कवि को अपने उसी अलग ही संसार में भेज दिया जाता जिसका कि निर्माण भावनाओं की नींव पर ही आरंभ होकर वहीं समाप्त हो गया है!

बूंद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह !

इन पंक्तियों के कवि से किसी दिन आशा की थी कि जिन मजदूर और किसानों के कारण, वह जिस सुन्दर जीवन का उपभोग करने में सफल हो सका है—समय आने पर कभी उनके आड़े समय में भी वह अवश्य काम आयेगा।

माता पिता के समवेत प्रयास ने उसे इस संसार के बीच धकेल दिया और उस असहाय जीवन को बनाये रखने का भार लिया किसानों ने—मजदूरों ने। तीस साल की उम्र तक कवि ने सैकड़ों मन गेहूँ खाये होंगे—कई मन साग सब्जियाँ खाई होंगी, न जाने कितने आम खाये, अंगूर खाये—रस भरी वनस्पतियाँ खाईं; दूध पिया—घी खाया, मक्खन खाया; और अपने हाथों से जिसने गेहूँ की एक बाली तक पैदा नहीं की ! वह यह तक भी नहीं जानता था कि वे किस तरह पैदा किये जाते हैं; अंगूर और आम कितने समय के बाद फलते हैं—गुलाब के फूल का बीज कैसा होता है, फिर भी जिन अज्ञात् हाथों के सहारे उसने जी भर कर इन सभी वस्तुओं का उपयोग किया और अपने सुन्दर जीवन को बनाये रख सकने में वह समर्थ हो सका—पर जब कभी इन हाथों को काट डालने के लिये दुश्मन की तलवारें तनेंगी, तब उस समय अपने कमरे में कुर्सी पर बैठकर वह कम से कम लेखनी के सहारे उन व्यक्तियों पर कुछ पंक्तियाँ तो अवश्य लिखेगा ही—क्यों किसी की कृतज्ञता पर अविश्वास किया जाय ? जो कवि बूंद के उच्छ्वास तक को भी अनसुना नहीं कर सकता, वह अवश्य किसी न किसी दिन अपने रक्षकों को जब उनके ही जीवन पर बन आयेगी, चार पंक्तियाँ तो लिख कर उन्हें बतला देगा कि वह कृतघ्न नहीं है !

जिन हाथों के अकथ परिश्रम द्वारा, उसने अपने शरीर की नग्नता को तीस पैंतीस साल तक छिपाया, और उस छिपाने में न जाने कितने कपड़े, कितनी तरह के कपड़े उसने फाड़ डाले होंगे ! हजारों गज कपड़ा नष्ट कर दिया होगा, सुन्दर से सुन्दर रेशमीन, ऊनी, सूती थानों का उसने मन चाहा उपयोग किया होगा—अपने शरीर का शृंगार किया होगा; पर जब उन

परिश्रम करने वाले हाथों पर यदि कोई खतरा आयेगा—तो क्या उनके लिये वह अपने हाथ से दो कविताएँ लिखकर अपने आभार का प्रदर्शन तक भी नहीं करेगा ? उन व्यक्तियों को लेकर जब उनके पेट का प्रश्न खड़ा होगा—तब उसके उत्तर में कुछ न कुछ लिख कर, वह अवश्य इतना तो जतला ही देगा कि वह एहसान फरामोश नहीं है !

पर उसे तो अपनी मधुबाला की छेड़खानियों से ही समय नहीं मिला !

कुछ विद्वानों का मत है कि कला का क्षेत्र बहुत व्यापक है—उसे किसान मजदूरों के प्रश्नों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये एक वाक्य में वे विशुद्ध कला के समर्थक हैं—चाहे वह कला, आकाश और इन्द्र धनुष ही के गीत क्यों न गाये ? सामाजिक समस्याएँ—राजनीति के अन्तर्गत आती हैं—कला और साहित्य से उन्हें क्या वास्ता ?

उनके उत्तर में कहूँगा कि यों तो दूध बहुत अच्छी वस्तु है—परन्तु बहुत सी बीमारियों में वह भी वर्जित है—और तो और पानी जैसी परमावश्यक वस्तु भी हैज़े के समय मौत का कारण बन जाती है ! उसी तरह जब आज का समाज एक भयंकर रोग से पीड़ित है तब उसके रोग का उपचार करने के अन्यथा कुछ भी अन्य तरह की मगजपच्ची करना नासमझी के सिवाय और क्या कह कर पुकारी जा सकती है ? विशुद्ध कला का मीठा स्वाद तो रोग के बाद भी चखाया जा सकता है—और इसके लिये इतने उतावलेपन की भी क्या आवश्यकता—अगली पीढ़ी में जब कि समाज रोग मुक्त हो जायगा तब क्या लेखकों और कवियों का अस्तित्व रहेगा ही नहीं—फिर यह विकल आतुरता क्यों ?

कवि या लेखक कोई भी हो—है तो इसी समाज के अंग ही न, तब उनकी देह भी इस रोग से क्योंकर वंचित रह सकती ह ? तब इस समय अपने रोग के प्रति उदासीनता प्रगट करके, भावनाओं के दूसरे ही संसार में विचरण करना एक कवि को कहाँ तक संगत है ? क्या उसको यह छोटी सी बात भी समझानी होगी कि रोग उपेक्षा से नहीं, उपचार से ही ठीक होता है ?

अपने घर की मधुशाला में बैठ कर चाहे शराब की बोतल के साथ—चाहे मधुबाला के साथ खिलवाड़ करने की धृष्टता करके वह चुप हो रह जाता तो कोई बात नहीं थी—उसे मन मार कर सहन भी कर लिया जाता ! पर

जब उसने बंगाल के अकाल पीड़ितों की लाशों के साथ भी खिलवाड़ करना आरम्भ कर दिया, तब उसकी यह क्रीड़ा कौतुक मनोवृत्ति केवल उसके व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं रह जाती।

सेठ मनसुखदास या सुखराम दास, कुछ भी कहिये - उन्होंने मरते हुए मनुष्यों की कुछ भी परवाह नहीं करके - अपने गोदामों में हजारों मन धान छिपा रखा था—उसको उन्होंने समुद्र में बहा भले ही दिया, पर रोटी रोटी चिल्लाने वालों के रोदन को सुन कर एक बोरी का मुंह भी उनके हाथों द्वारा नहीं खुल पाया। वे तो अपराधी हैं ही – क्योंकि उन्होंने उन नर नारियों के जीवन को खिलवाड़ का साधन बनाया। पर बच्चन ने तो उन मृत कंकालों के साथ ही खिलवाड़ करना शुरू कर दिया—तब उसका अपराध तो सेठ मनसुख दास जी से भी कहीं सौ गुना अधिक बढ़ जाता है।

एक बार उसने बंगाल की हजारों लाशों के साथ व्यापार करके देखा उससे लाभ हुआ तो उसने गांधी जी की घायल लाश के साथ भी व्यापार कर दिया! यदि उसकी इस व्यवसायिक दुष्प्रवृत्ति को यहीं रोक दिया न जायेगा तो बहुत संभव है शायद वह सारे समाज तक को हलाहल देने का दुस्साहस न कर बैठे?

सच है कि बापू के मरने की खबर सुनकर बहुत सारे व्यक्ति एकदम से रो पड़े थे। राजदुलारी, राजरानी, सुशीला, सुजाता, सुमित्रा, सुभ्राता सावित्री और ऊषा पाठक तो बिस्तर पर औंधी लेट कर तीन चार घंटे तक रोई थीं, पर बापू के नाम पर निकले उन आंसुओं को शीशी में बंद करके उन्हें किसी ने भी बाजार में बेचने की कोशिश तो नहीं की!

माना कि बापू की मृत्यु के कारण विवश हो कर बच्चन को ये कविताएँ लिखनी पड़ीं—पर लिख कर उन्हें प्रकाशित कर बाना ही होगा—यह तो कोई जरूरी नहीं था! उन्हें फाड़ कर रद्दी टोकरी में भी तो डाला जा सकता था!

और जब उनकी यह 'विवशता' साज बाज के साथ प्रकाशित होकर, चार चार, पांच पांच रुपयों में बिकने के लिये दुकानों में आ गई—तब उसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि उनकी वह विवशता केवल रुपयों के खातिर ही थी। बच्चन की हथेली में खाज चली—और उसके सौ दिन बाद ही 'सूत की माला' 'और खादी के फूल' बाजार में बिकने के लिये आ गये।

'सूत की माला' के प्राक्कथन में बच्चन इस प्रकार से सफाई पेश करते हैं :—

"कविता लिखना मेरे जीवन की एक विवशता है—कहना चाहिये अनेक विवशताओं में से एक है। और अपनी इस विवशता का अनुभव संभवतः कभी मैंने इतनी तीव्रता से नहीं किया, जितना बापूजी के बलिदान पर। बापू की हत्या के लगभग एक सप्ताह बाद मैंने लिखना आरंभ किया और प्रायः सौ दिनों में मैंनें दो सौ चार कविताएँ लिखीं। मेरे लिखने की प्रगति भी कभी उससे तेज नहीं रही।

....अपने पाठकों से मैं कहूँगा कि वे पुस्तकों के नाम भेद को भूलकर दोनों संग्रहों की मेरी समस्त रचनाओं को बापू के बलिदान के प्रति मेरी प्रति क्रिया समझें।

सौभाग्य से इन गीतों को लिखते समय पंत जी मेरे साथ ही रहते थे; उनकी निकटता में मेरी रचना शक्ति को एक कलानुकूल वातावरण मिला।"

'निशा–निमंत्रण' और 'मधुकलश' की कविताओं को पढ़कर हम भी उनकी इस विवशता का समर्थन करने को तैयार थे–पर 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' के इस रूप में उनके जीवन की विवशता तो लिखकर स्वीकार कर लेने पर भी मानी नहीं जा सकती। और यों विवशता के भी एक दो नहीं बीसियों पहलू हैं–और उनकी यह विवशता किसके अंतर्गत आती है–यह जरा सोचने समझने की बात है। श्री उम्मेद पाली मिल के सेठ साहब मँगनीराम जी बाँगड़ भी तो इसी तरह कह सकते हैं कि मिल को चलाना उनके जीवन की एक विवशता है। 'त्रिपोलिये' के पास वाले बाजार में बैठी हुई मुन्नी वेश्या को भी यह कहने का अधिकार है कि कोठे की बारी में संध्या के समय सज धज कर बैठने के बाद हाथ के इशारे से पुरुषों को ऊपर बुलाना उसके जीवन की विवशता है! बच्चन की उस विवशता ने जब छापे के

अक्षरों का रूप धारण कर लिया—तब उसका मतलब भी अपने आप बदल गया।

और इस विवशता की बाध्यता भी इतनी सबल थी कि बस क्या कहना? सौ दिनों में उन्हें अख मार कर दो सौ चार कविताएँ लिखनी पड़ीं। समय का बंधन भी तो कोई चीज होती है। ज्यादा समय बीत जाने पर व्यापार मंदा पड़ने की भी तो संभावना थी। फिर लिखने की प्रगति को अपने आप ही तेज हो जाना पड़ा—उस पर प्रकाशकों के तकाजे की भी तो मार थी!

इन दो किताबों के नाम भेद को भुला कर दोनों संग्रहों को एक समझना—कौन सी बड़ी बात है? जिसके लिये निवेदन की आवश्यकता आ पड़ी। 'चरखे की आवाज' इस नाम की एक और किताब निकाल देते तो—हमें तो उसे भी बापू के बलिदान की प्रतिक्रिया ही समझना पड़ता—इसमें इतना जोर दे कर कहने की क्या बात है? उनके मन का संदेह अपने आप ही प्रगट हो कर—अपनी सफाई क्यों देने लग गया? उन्होंने कैसे यह समझा कि कोई इसे बापू की प्रतिक्रिया नहीं समझेगा? जब बच्चन के मुंह पर दाढ़ी ही नहीं है, तब उसमें तिनके की आशंका का तो प्रश्न ही नहीं उठता—पर बात कुछ ऐसी ही है। जरूरी नहीं कि हर चोर के मुंह पर दाढ़ी ही हो!

सौभाग्य से इन गीतों को लिखते समय सुमित्रानंदन, बच्चन के साथ रहे—या उन्हें तार देकर बुला दिया गया—दोनों एक ही बात है—विशेष कोई अन्तर नहीं पड़ता। तथ्य की बात तो यह है कि जैसे भी हो वे इस व्यापार में साथ रहे। साझे के इस व्यापार में लाभ की अधिक आशा जान पड़ी।

पंत और बच्चन इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है, इसकी ठीक से जानकारी नहीं होने के कारण, मैं यह बतला सकने में बिलकुल असमर्थ हूँ कि पंत जी की निकटता में बच्चन की रचना शक्ति को किस तरह कलानुकूल वातावरण मिला।

इसलिये मान लेता हूँ कि उन्हें कलानुकूल वातावरण मिला—पर वह आखिर गया कहाँ? कमरे की चहार दिवारी के बीच ही क्या वह कला सीमित रह गई? इसके अनुभव का आनंद तो केवल बच्चन ही ले सकते हैं—पर यह वातावरण जब पुस्तक रूप में हम तक नहीं पहुँच पाता तो हम उसे किस तरह स्वीकार कर लें?

यदि उस कलानुकूल वातावरण देन—'सूत की माला' और 'खादी के फूल' ही के रूप में प्रगट हो सकी है, तब बहुत समय तक खोज खोज कर पता लगाना पड़ेगा कि कामायनी के कवि ने भी क्या इस तरह के कलानुकूल वातावरण का दावा किया है—या नहीं ? यदि नहीं तो फिर बच्चन को यह लिख कर जतलाने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? शायद यह बात पढ़ कर कुछ अन्य लोगों को भी पंत जी के साथ रह कर इस तरह के कलानुकूल वातावरण का लोभ न हो जाये !

'खादी के फूल' में बच्चन की कविताएँ हैं—तर्राणूँ, और 'सूत की माला' के धागे हैं— एक सौ ग्यारह; गणित का हिसाब तो किसी का भी पक्ष नहीं रखता, सो कुल मिला कर जोड़ होती है—दो सौ चार। इस गणित के हिसाब को तो कुछ भी चुनौती नहीं दी जा सकती—पर मन नहीं मानता कि वास्तव में इन कविताओं की संख्या इतनी ही है। एक ही बात को, अथवा एक ही घटना को, कुछ पन्ने छोड़ देने की पश्चात् वापिस हेर फेर कर दूसरे शब्दों में बार बार बतला देने से वे क्यों कर भिन्न कविता का रूप धारण कर लेती हैं—मेरी तुच्छ बुद्धि में तो आसानी से यह बात प्रवेश नहीं कर सकती—खैर कुछ भी हो—एक बार फूलों को गिन लिया गया है—और दूसरी वार उन्हीं फूलों से बनी हुई मालाओं को भी गिन लिया गया, और जैसे तैसे करके उन दोनों की जोड़ दो सौ के ऊपर चार, हो कर ही रही। कवि की व्यवसायी बुद्धि के कौशल की दाद तो देनी ही पड़ेगी !

कोई एक बार नहीं — करीब करीब हर बार ऐसा हुआ करता है कि किसी भी भारतीय चलचित्र को देखने के पश्चात् यह सोच कर ही अपने मन को खुश कर लेता हूँ कि बस इससे अधिक खराब चित्र तो क्या बनेगा ? जब पूरे के पूरे चित्र में एक सैकिंड के लिये भी, एक छोटे से छोटे स्थल पर भी कहीं कोई अच्छी बात नहीं, तब उसकी बराबरी के चित्र की तो कल्पना की जा सकती है, पर उससे निम्न कोटि के चित्र का तो हिसाब ही क्यों कर लगाया जा सकता है। कहानी, निर्देशन, संगीत, अभिनय कुछ भी तो अच्छा नहीं, इन सभी बातों की गणना करके, भारतीय चल-चित्रों के पतन की एक निश्चित सीमा निर्धारित करना किसी भी दृष्टिकोण से असंगत नहीं।

ढाई, तीन घंटे में जितने भी सैकिंड होते हैं, उनको तो घटा बढ़ा सकने की बात ही पैदा नहीं होती ; बात पैदा हो या न हो, भारतवर्ष में ऐसे कई निर्देशक पैदा हो गये हैं – जो एक चुटकी मात्र में सारे हिसाब पर पानी ही फेर देते हैं – अगला जो भी चित्र देखा - वह पहिले वाले चित्र से हजार गुना खराब – और उससे अगले वाला चित्र उससे भी कहीं अधिक खराब ! उसी ढाई पौने तीन घंटे की सीमित अवधि में भारतीय निर्देशक न जाने कैसे यह सब कुछ संभव बना लेते हैं – इसका अनुसंधान जरा कठिन है। इस बात के लिये उनका लोहा मानना ही पड़ता है। तब हार कर यह स्वीकार कर लिया कि भारतीय चल-चित्रों की निकृष्टता और उनकी अश्लीलता की सीमा को बाँध रखना संभव नहीं है – इनकी कोई भी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती कि इससे आगे और क्योंकर बढ़ा जा सकता है ? भारतीय निर्देशकों की इस क्षेत्र में कौन बराबरी कर सकता है ?

ठीक यही बात भारतवर्ष के इस कवि के लिये भी समान रूप से लागू होती है। दोनों किताबों को एक दृष्टि में एक साथ तो पढ़ा नहीं जा सकता। एक-एक कविता की एक-एक पंक्ति को समाप्त करने के बाद ही आखिर पूरी किताब को पूरा करके ही दूसरी किताब को आरंभ किया जाता है। कई कविताओं को पढ़ते समय यह धारणा बना ली थी कि इससे रद्दी कविता तो और क्या होगी ? पर क्रमानुसार रद्दी पर रद्दी कविताएँ मिलती ही गई - तब आखिर मानना ही पड़ा कि इन कविताओं की बुराइयों के लिये भी कोई निश्चित रेखा खींचना संभव नहीं है - इनका विस्तार असीम है।

बहुत अधिक सोचने पर भी मैं पूरे रूप से इस निर्णय पर नहीं भी पहुँच पाया कि बच्चन साहब ने आखिर इन दो सौ चार कविताओं को बनाया किस तरह ? बात न बात का नाम — और उस पर दो मोटी मोटी किताबें लिख डालना अवश्य बधाई देने योग्य बात है ।

बड़ी मुश्किल से कवि के हाथ की सफाई को कुछ-कुछ समझ पाया हूँ — अन्यथा कई स्थलों पर बच्चन भैया बिलकुल साफ ही निकल गये । अपनी इस अक्षमता को स्वीकार करने में मुझे कुछ भी संकोच होना नहीं चाहिये !

*

गाँधी जी हम भारत वासियों के लिये एक दीपक के समान थे- और उनके बुझ जाने से भारतवर्ष में एकदम से अन्धेरा छा गया: यह एक साधारण सी उपमा किसी भी मस्तिष्क में आ ही जाती है । गाँधी जी की मृत्यु से संबंधित ऐसी कई कविताएँ पढ़ने को मिली — जिनमें दीपक के साथ उनकी उपमा दी गई है । और इस कल्पना के आधार पर फिर सारी कविता बना डालना एक आसान सी बात हो जाती है ।

बच्चन के मस्तिष्क में एक पंक्ति आई :—

हो गया क्या देश के सबसे सुनहले दीप का निर्वाण !

गाँधी जी की मृत्यु पर लिखी गई यह पंक्ति अच्छी ही है - बुरी नहीं । पर बच्चन भैया के हाथ यह पंक्ति लगी नहीं कि बस उसे पूरा का पूरा निचोड़ कर ही रख दिया, दस कविताओं तक उसका पीछा नहीं छोड़ा । इस तरह केवल एक शब्द बदलने से दस पंक्तियाँ तो अपने आप ही बन गईं — और उन दस पंक्तियों से दस कविताओं का बंधन अनिवार्य हो गया ।

१. सुनहले दीप का निर्वाण !

२. दमकते दीप का निर्वाण !

३. चमकते दीप का निर्वाण !

४. प्रभामय दीप का निर्वाण !

५. मनस्वी दीप का निर्वाण !
६. तपस्वी दीप का निर्वाण !
७. यशस्वी दीप का निर्वाण !
८. अचंचल दीप का निर्वाण !
९. प्रगति मय दीप का निर्वाण
१०. जरूरी दीप का निर्वाण

बच्चन लाला की असीम दया कि सारी की सारी किताब तक इस पंक्ति को नहीं खींचा—केवल दस कविताओं के बाद ही इसे छोड़ दिया !

गांधी जी को यदि दीपक बनाया गया है— तो फिर उनसे दीपक ही की तरह काम लिया जाय !

दमक, चमक, प्रभा—ये सब बातें तो दीपक की लौ में होती हैं। 'जरूरी' विशेषण भी चल सकता है। पर मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी दीप तो न कभी देखा और न कभी सुनने में आया। माना कि गांधी जी मनस्वी थे, तपस्वी थे और यशस्वी भी थे, पर जब वे कवि की उपमा के सहारे दीपक का रूप धारण कर लेते हैं—तो फिर उसके स्वाभाविक गुणों का बंधन भी उनके लिये अनिवार्य हो जाता है ! गांधी जी के गुणों को दीपक के गुणों में नहीं ढाला जा सकता !

कवि की नासमझी से दी गई प्रत्येक उपमा का अपनी समझ से कोई न कोई मतलब बिठाना ही होगा, क्या इसी कारण के बल पर उसे स्वच्छंदता के दुरुपयोग का अधिकार प्राप्त हो जाता है ? कवि की लेखनी से लिखी हुई कोई भी बात निरर्थक, निराधार और तथ्य हीन नहीं हो सकती—परम्परा से चलती हुई यह 'धारणा' क्या 'नियम' रूप में लागू हो गई कि जिसे किसी भी प्रकार की चुनौती ही नहीं दी जा सकती ?

*

दीपक की लौ पर से दृष्टि हटते ही कवि ने भारत वर्ष के कवियों की ओर आँखें फिरा लीं। उनको लक्ष्य करके लिखी गई कविताएँ—यों तो बापू पर

घटित हो ही जाती हैं—कविता का कोई कवि के ऊपर तो वश चलने से रहा। वह उसे जिस ओर घटित कराना चाहेगा, उसे भी उस ओर घटित होना ही पड़ेगा।

सबसे पहिले बच्चन की दृष्टि गुप्त जी पर पड़ी—और उन्होंने मार मार कर कविता भी बनानी शुरू कर दी—जो 'मार मार कर मुल्ला' बना देने से भी ज्यादा मनोरंजन कारी है।

ओ राष्ट्र महाकवि, राष्ट्रनाद मैथली शरण,
हो गया राष्ट्र के पूज्य पिता का महा मरण?
हो कर अनाथ यह आर्त मांगती शरण,
कुछ कहो देवता. दैन्य, शोक, संताप हरण!

'शरण' शब्द के जोड़ की तुक बन्दियाँ 'मरण' 'हरण' के अन्यथा और हो ही क्या सकती हैं? जब पहिली पंक्ति में 'मैथिली' के आगे 'शरण' आ गया तो फिर दूसरी पंक्ति में 'मरण' को तो आना ही पड़ेगा—नहीं आयेगा तो फिर जायेगा कहाँ? 'मरण' शब्द का बंधन स्वच्छंदता से 'हरण' को खींच लाया इस तरह से चार पंक्तियाँ तो बन ही गईं? न मेंहदी लगी और न फिटकरी—फिर भी रंग अच्छा ही उतरा!

गुप्तजी के बाद बारी बारी से एक के बाद एक कवि को झख मार कर बच्चन की लेखनी के नीचे आना पड़ा—क्योंकि जितनी जल्दी हो सके प्रकाशक के हाथों यह किताब सौंपनी थी!

तुम कहाँ छिपे हो युगप्रवर्तक सूर्यकांत,
युग-पुरुष लुप्त हो गया, तिमिर छाया नितांत;
सम्पूर्ण देश हो रहा आज दिग्भ्रांत क्लांत,
बिखराओ अपने प्रखर स्वरों की शीघ्र क्रांत!

स्वयं बच्चन ने तो प्रगट होकर बापू के घावों का थोड़ा बहुत उपचार तो कर ही दिया, शेष के लिये 'युग प्रवर्तक सूर्यकान्त' को निमन्त्रण दिया जा रहा है कि वे भी अपने हाथ से बापू के घावों पर नमक छिड़क, कुछ उपचार कर लें, जिससे अकेले बच्चन ही की बदनामी न हो। युग पुरुष के

घावों पर युग प्रवर्तक के अतिरिक्त और किसके हाथों में इतना बल है कि उन पर नमक छिड़के !

निराला के बाद बहिन महादेवी, दिनकर और भाई सुमन की बारी आई। ऐसे सुअवसर पर बहिन, भाई कविता करने में मदद नहीं देंगे तो और कौन देगा ?

मत रहो मौन यों, बहिन महादेवी बोलो,
कुछ तो रहस्य इस दुर्घट घटना का खोलो,

उठ 'दिनकर', भारत का दिनकर हो गया अस्त,
शृंगार देश का क्षार धूम में ग्रस्त-ध्वस्त,

तू कहाँ आज भाई शिव मंगल सिंह 'सुमन',
है खड़ा हो गया वक्त आज बनकर दुश्मन,

इस तरह अपने बहिन-भाइयों को सम्बोधन करके खादी के फूलों का सूत काता गया है।

तुम किस फिराक में पड़े हुए रघुपति सहाय,
बापू के उठने से है भारत निस्सहाय,

सर्दार जाफरी, जाति आज सर्दार हीन,
भारत माता का चेहरा मातम से मलीन,

'सर्दार' और 'दिनकर' जैसे कुछ शब्दों को दोहरा कर भूषण पद्धति के अनुसार कविता को अलंकारों से सजाने की भी चेष्टा की गई है।

'फिराक' रघुपति सहाय का उपनाम भी है—और फिराक शब्द का मतलब खोज से भी है ! 'मधु कलश' के कवि को बापू पर कविताएँ लिखने के लिये आखिर इस 'कला चातुर्य' का सहारा लेना पड़ा ? 'तुलसी नर का क्या बड़ा, समय बड़ा बलवान !'

बिहारी सतसई के दोहों को रस भरी पिचकारियाँ और मिसरी की डली कह कर जिस तरह मिश्र बन्धुओं को छुटकारा मिल गया था, उस तरह बच्चन

की इन कविताओं को अफीम की गोली कह कर भी मैं अपने छुटकारे का रास्ता नहीं खोज पाता। बिहारी के दोहों को मिसरी की डली से उपमा देकर उन्होंने कहा है कि उसे जिधर से भी चखिये—मीठी ही मीठी! और इसके विपरीत अफीम की गोली का चाहे किस ओर से भी स्वाद लिया जाय—सिवाय कड़वे पन के और कुछ भी नहीं मिलेगा! पर फिर भी आज दिन तक कोई ऐसा व्यक्ति तो कहीं भी नहीं मिला कि जिसे मिसरी खाने की वहुत बुरी तरह से आदत ही पड़ गई हो। अफीम खाने का वन्धन तो वर्षों से चला आ रहा है—और चलता रहेगा। अफीमची कई होते हैं—लेकिन मिसरची तो कभी कहानियों में भी पढ़ने को नहीं मिला। इसलिये इन कविताओं को अफीम की गोली कह सकना, शायद मिश्र वन्धुओं के लिये भी असम्भव वात होती! खैर—

'मोहिनी', 'जिगर', 'सागर', इकवाल', जिस किसी भाषा के जितने भी भी कवि याद आये, उन सब को वच्चन ने पकड़ कर धर दवाया—और हर एक पर चार, छः, आठ या दस पंक्तियाँ लिख कर अपने हाथ में के काम को पूरा कर लिया गया।

'कलानुकूल वातावरण प्रदान करने वाले अपने निकटतम साथी पंत को तो भूलते भी किस तरह? मरे हुए कवियों को कब्र तक में नहीं छोड़ा, फिर रात दिन साथ सोने, बैठने वाले कवि को छोड़ना एक आश्चर्य ही की वात होती।

तुमसे मेरी प्रार्थना, सुमित्रानंद (न) पंत,
संतों में सुमधुर कवि, कवियों में सौम्य संत,
आ पड़ी देश पर, वंधु, आपदा यह दुरंत,
टूटे सत्यं, शिवं, सुंदरता के तंतु तंतु!

माने क्या हैं जो हुआ देश पर यह अंनर्थ,
बोलो वाणी के पुत्रों में सबसे समर्थ,

वंदित वीणा पर गाकर अपना ज्ञान-गान,
सुस्थिर कर दो भारत माता के विकल प्राण,
भूत, भविष्यत् वर्त्तमान,
ओ कविमनीषी करो विश्व का समाधान!

अपने मन से तो कवियों के इस सौम्य संत, और संतों में सुमधुर कवि ने ऐसा कुछ भी नहीं किया, जिससे विश्व की बात तो दूर, किसी मोहल्ले की एक गली का भी 'समाधान' हो सके ! पर अब तो यदि उन्हें अपने मित्र के आग्रह का यह सब कुछ भी कर सकने की प्रेरणा, दे सके तो वह दूसरी बात है ।

जब मित्र ही मित्र की बड़ाई न करे तो वह मित्र कैसा ? समय आने पर पंत जी इससे भी सौ गुनी अधिक बच्चन की तारीफ कर देंगे । कोई भी नुकसान में नहीं रहेगा ! बच्चन को मौका मिला तो उसने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए अपने मित्र की प्रशंसा कर दी, तो इसमें पंत जी का क्या दोष? अपनी प्रशंसा पाने के लिये गधा भी ऊँट के रूप की स्तुति करता है और ऊँट अपने मित्र के स्वर का गुण गान ! पंत और बच्चन लाख बुरे हों, पर गधे और ऊँट से तो उनमें सौ गुना अधिक समझ है ही, इसमें विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं ! तब आपस में घनिष्ठ मित्रता के नाते बच्चन की लेखनी ने यदि थोड़ी बहुत प्रशंसा भी कर दी तो वह अत्युक्ति कैसे हो गई ? लेकिन कम से कम उन्हें इतना तो अवश्य सोचना था कि जब पंत जी अपनी स्वेच्छा से भी अच्छी कविता लिखने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं — तब बच्चन के अनुरोध मात्र से वह क्योंकर उस परंपरा के अपवाद रूप में अपने को प्रमाणित कर सकेंगे ?

तेरह कवि और लेखकों के सहारे से भी जब बच्चन का जी नहीं भरा तो उसने कुछ बड़े बड़े महा कवियों का सहारा लिया कि जिनको लक्ष्य करके एक, दो दो पृष्ठ सहज ही में भरे जा सकें ! सरोजनी के बाल पकड़े, रविबाबू की दाढ़ी पर हाथ मारा, इकबाल को भी कब्र से ला उखाड़ा और अरविंद तक को उसके आश्रम से खींच लाकर, इस माया जाल में फँसा दिया ! इन सभी महान् विभूतियों पर पूरी की पूरी कविताएँ लिख मारीं । इनके नाम की ओट लेकर अपने दाम पूरे किये ।

हिन्दी के पाठकों पर बच्चन ने बड़ी दया की कि अंग्रेजी के कवि मिल्टन, शेक्सपियर, बाइरन और शैली को इस अवसर पर निमंत्रण नहीं भेजे- उन्हें बिलकुल ही नहीं सताया ! यदि वे ऐसा कर देते तो बेचारे निरीह पाठकों को यह भी मन मार कर पढ़ना पड़ता !

ओ सरोजनी यह तेरी ओज भरी वाणी,
हिन्दुस्तान की आवाजों की पटरानी,
तेरे सफ़ेद बालों पर जाती हैं आँखें,
लेकिन ये उनसे ज़रा भी नहीं घबराती हैं,
है कहा किसी ने, जब शायर बूढ़ा होता है,
उसकी कविता तब नौजवान हो जाती है !

ज़रा सोचने समझने की बात है कि खादी के फूलों की संख्या किस षडयंत्र के द्वारा बढ़ाई गई है, और इस षडयंत्र की जानकारी के बाद भी कवि ताल ठोंक कर यह दावा करता है कि कविता लिखना उसके जीवन की विवशता है! बापू की मृत्यु पर सरोजनी को लक्ष्य करके लिखी गई कविता को भी हम बड़ी आसानी से पचा लेते यदि उसकी अभिव्यंजना इतनी निर्बल, थोथी और निकृष्ट कोटि की न होती। कुछ मूल्य पाकर बेवकूफ बनते, तो एक बात भी थी; पर इस तरह सरासर नमक की रोटी तो मुँह में भी नहीं जाती फिर उसे गले के भीतर तक उतारने का सवाल ही पैदा नहीं होता!

'तेरी ओज भरी वाणी' और 'आवाजों की पट रानी' की तुक बन्दियाँ मिला कर बच्चन ने अपना उल्लू सीधा करने का यह अच्छा खासा सम्मानित व्यवसाय खोज निकाला है। पीछे की अंतिम कड़ियाँ, तो 'मधुकलश' और 'निशा-निमंत्रण' की प्रत्येक कविता में मिलती हैं–पर उन्हें तुकबन्दियाँ कहने का कौन दुस्साहस कर सकता है?

सरोजनी के सफेद बालों पर इधर बच्चन की दृष्टि गई नहीं कि और उधर हाथ की लेखनी ने उर्दू के एक शेर का अनुवाद किया नहीं!

जवानी से अधिक बुढ़ापे में नूरे जोश होता है,
भड़कता है चिराग जब सुबह खामोश होता है।

इस शेर के शब्द अभी ठीक से याद नहीं भी आ रहे, पर इसका भाव बहुत कुछ यही है। अनुवाद चाहे ठीक हो चाहे बुरा, बच्चन को इससे कोई वास्ता नहीं! 'खादी के फूल' में ये चार पंक्तियाँ तो काम आ ही गई! आखिर इसी तरह ही तो दो सौ चार कविताएँ पूरी होंगी!

शैली की चार पंक्तियों का अनुवाद करके उसकी कला पर भी छुरी फेरने की कोशिश की गई है :—

लेकिन कवि तो दुख में भी गाता है,
क्या याद नहीं है शैली जो बतलाता है—
जिन गीतों में शायर अपना ग़म रोते हैं,
वे उनके सबसे मीठे नग़मे होते हैं !

विश्वास कीजिये, और किसी की भी नहीं, शैली की इन्हीं दो अमर पंक्तियों का अनुवाद है यह। बच्चन के हाथों उसके प्राण तो अवश्य छीन लिये गये पर यह ऊपर वाली लाश इन्हीं दो पंक्तियों ही कि है :—

Our sweetest songs are those
that tell of our sadest thought.

(Sweetest songs) के स्थान पर 'मीठे नग़मे' लिख कर सारी बात को एक दम से कडुवा बना दिया गया ! और 'अपना ग़म रोते हैं' यह लिखकर तो बच्चन ने शायर की विवशता, लाचारी, बेहयापन को साफ बिछा कर रख दिया ! अपने ग़मों पर रोना किसी भी शायर के लिये लज्जा ही की बात है—सम्मान की नहीं। 'शैली' वाली बात का भाव तो जैसे इन पंक्तियों के पास होकर भी नहीं फटका।

यदि होते बीच हमारे श्री गुरुदेव आज,
देखते, हाय जो गिरी देश पर गाज,

'इक़बाल' क़ब्र के अंदर सोते मौन आज,
मर्सिया कौम का गा सकता है कौन आज।

भारत पर आकर टूटी है क्या आधि व्याधि,
अरविंद आज देखो तजकर अपनी समाधि,

गुरुदेव बहुत पहिले ही थे मुंह गये मोड़,
बापू भी अपना हम से नाता गये तोड़,
वे हाय, भरोसे किसके हमको गये छोड़।

इन सभी पंक्तियों का अर्थ तो बिलकुल ही आसान है—पर मेरी यह समझ में नहीं आता कि इनको लिखा क्यों गया? मैंने ती केवल दो दो पक्तियों ही का उदाहरण दिया है, पर किताब में प्रत्येक कवि पर पूरी पूरी कविता लिखी हुई है !

'आज' और 'गाज' 'आधि' 'व्याधि' 'तोड़', 'मोड़' और 'छोड़' इस तरह की तुकों का मिलान देख कर लगता है कि जैसे कोई दूसरी या तीसरी कक्षा का बालक कविता करना सीख रहा हो !

मलियानिल भी अब साँय साँय करता है,
जैसे इस ग़म में वह भी आहें भरता है।

आज कैलाश उच्छ्वास भरता,
आज गंगा हुई अश्रु धारा।

आज संताप से स्तब्ध सागर,
आज सहमा दवा विश्व सारा!

मलियानिल के साँय साँय करने को वापू के ग़म की आहें वतलाना, यह आज के वैज्ञानिक युग में साँस लेने वाले आधुनिक कवि को शोभा नहीं देता। रीति कालीन कवि भी वियोगिनी की आहों से लू की उत्पत्ति वतलाते थे – और इधर जब बच्चन गाँधी जी की मृत्यु पर मलियानिल को साँय साँय करवा कर आहें भरवाते हैं, तो दोनों में क्या ऐसा अन्तर आ पड़ा? वात तो एक ही है। फिर भी आज का आलोचक उन रीति कालीन कवियों को इसी दोष पर उनकी खिल्ली उड़ाता है, और जब आधुनिक कवि के हाथों भी सब कुछ जानते हुए, यह अपराध हो जाता है, तो उसमें भी कुछ न कुछ नवीनता खोजने की कोशिश की जाती है!

पहाड़ के प्राकृतिक झरनों को आँसू वतलाने की नादानी का अब सम्मान नहीं किया जा सकता! वे वापू की मृत्यु के पहिले भी इसी तरह निर्विरोध गति से वहते थे, और उसके वाद भी उनकी गति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आया; उनका जल वापू की मृत्यु के वाद भी उसी तरह मीठा और ठंढा था! उत्तरी गोलार्ध में होने के कारण, जून जुलाई के महीनों में वापू की मृत्यु के पहिले भी गर्मी पड़ती थी, और प्रलय काल तक इसी रूप में पड़ती रहेगी! वापू की मृत्यु के वाद सर्दियों के दिनों में निश्चय रूप से ऊनी कपड़ों की आवश्यकता रही होगी–इसमें कोई संशय नहीं! वापू के मरने से प्राकृतिक भूगोल में किस तरह परिवर्तन आ गया, यह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर बच्चन साहब के लिये एकांत में तनिक सोचने समझने की बात है! यदि ये दो पंक्तियाँ नहीं लिखी जातीं, तो भी प्रकाशक शायद पैसे तो नहीं भी काटता!

कविताएँ रद्दी हैं–तो उन्हें रद्दी कहना ही पड़ेगा–चाहे वे बच्चन ही की हों–चाहे मेरे पिताजी ही की। और न आलोचना करने का यह मतलब ही होता है कि यदि बायें पृष्ठ पर किसी कविता की आलोचना की जाय या उसे बुरा भला कहा जाय, तो दाहिने पृष्ठ पर स्वयं आलोचक उसी भाव पर आधारित कोई सुन्दर कविता लिख कर बतलाये! बापू के निधन पर हमारे जोधपुर के भी कुछ कवियों ने उनकी मृत्यु को अपना विषय बनाकर, उस पर अपनी लेखनी उठाई है, और बहुत ही सफलता के साथ उठाई है।

मेरे अपने ही एक बहुत निकटतम मित्र मरुधर मल ने बापू की मृत्यु के बाद उन पर एक कविता लिखी; सारी कविता में खोजने पर बुराइयाँ भी निकाली जा सकती हैं, पर उसकी पहली ही पंक्ति अपने आप में इतनी सबल और पूर्ण है कि फिर उसके बाद, कम से कम बापू के लिये कुछ भी और कहना शेष ही नहीं रह जाता।

पथ थका पर पद न हारे!

जिस पथ पर मृत्यु पर्यंत अपनी अनवरत गति से बापू चलते रहे, आखिर उसको ही हार माननी पड़ी! बापू की पतली पतली टाँगें नहीं हारीं सो नहीं ही हारीं! इससे कम शब्दों में बापू के महान् व्यक्तित्व को इससे ज्यादा और क्या मान्यता दी जा सकती है?

रेलवे स्टेशनों पर जब बापू की दो टाँगों को, एक लंबी सी लाठी को, और उन पाँवों के नीचे दबी हुई विस्तृत पथ रेखा को देखता हूँ तो इसी क्षण मरुधर की यह पंक्ति याद आ जाती है—

पथ थका पर पद न हारे!

इसी तरह जब कभी भी चित्र में बापू की चिता को देखता हूँ–चंदन की उन बड़ी बड़ी लकड़ियों से प्रज्वलित बापू की निष्प्राण लाश को जलते देखता हूँ तो एकदम से हरिकृष्ण प्रेमी के एक गीत की पहिली पंक्ति मेरे गले से अपने आप ही उच्चारित हो जाती है!

चिता की आग कहती है–
कि शव में अभी प्राण वाकी हैं !

इस पंक्ति के शब्दों में जिस भाव की गहराई अंतर्हित है उसको किसी भी तरह नापा नहीं जा सकता। मरे हुए व्यक्ति को जिस आग की लपटों में जलाया जाता है, उसी का नाम चिता है, पर वापू की मृत देह को जलाने वाली चिता के अंगारे दहक दहक कर कह रहे हैं कि उस शव में अभी प्राण वाकी हैं–और वे कभी भी निष्प्राण नहीं हो सकते !

यद्यपि यह पंक्ति वापू को लक्ष्य करके नहीं भी लिखी हुई है–पर मैंने अपनी ओर से उनके लिये बिठाली है; मुझे लगता है कि सिवाय वापू के और किसी भी व्यक्ति पर इसका मतलब सही नहीं उतर सकता ! केवल वापू ही की चिता को यह कहने का अधिकार है :–

चिता की आग कहती है–
कि शव में अभी प्राण वाकी है !

इस एक पंक्ति मे ही वापू के जीवन का सारा चित्र अंकित हो गया है।

राजस्थानी भाषा में रेंवत ने वापू की मृत्यु पर एक इतनी अच्छी कविता लिखी कि हिन्दुस्तान के किसी भी बड़े से बड़े कवि के लिये उसे कंठस्थ कर लेना– एक सौभाग्य ही की वात है। हिन्दी के प्रतिनिधि कवि पंत, वच्चन और नरेन्द्र शर्मा अपनी किताबों को तराजू के एक पलड़े में रखकर, रेंवत की उस कविता की केवल चार ही पंक्तियों को दूसरे पलड़े में रखकर– ज़रा अपनी कला को तोल तो लें –

हुती जे फूल री मन में–कमल ने तोड़ लेणो हो,
हुती जे रूप री मन में–पूनम रो चाँद लेणो हो !
हुती जे जोत री मन में–सूरज ने माँग लेणो हो,
हुती जे मिनख री मन में–तो कोई भूप लेणो हो !

चिता में जलने के वाद मरे हुए मनुष्य की जो भी छोटी छोटी अधजली हड्डियाँ शेष रह जाती हैं– उन्हें राजस्थानी में 'फूल' कहा करते हैं ! मरने के वाद जिस लोक में वापू गये, यदि वहाँ किसी फूल की चाह थी–तो हमारे

इस मानवीय जगत के सारे फूल—कमल इत्यादि तोड़ कर वहाँ भेज दिये जाते तो भी हमें कोई शिकायत नहीं थी; पर आखिर किस आकर्षण के कारण बापू के फूलों की वहाँ पर माँग हुई? बापू के बदले में हम चाँद को सौंप देते; सूरज के प्रकाश के बिना भी हमें जीना स्वीकार था, यदि हमारे बापू हम सबके बीच रह जाते! यदि उस लोक में रूप की कमी थी—तो फिर पूर्णिमा के चंदा को न तोड़ कर, गलती से बापू को क्यों उठा लिया गया? यदि उस लोक में अंधकार को मिटाने के लिये ज्योति की आवश्यकता थी, तो हमारे इस संसार से सूरज को माँग लिया जाता; हम तब भी इन्कार नहीं करते पर सूरज के बदले में बापू का यह सौदा हम भविष्य के किस आश्वासन पर सहन करें? यदि वहाँ मनुष्य नाम के प्राणधारी का अभाव था, तो भारत वर्ष के सुंदर, सुगठित देह वाले राजे—महाराजाओं को लेना चाहिये थे, पर फिर भी बापू की उस कुरूप, दुबली, पतली देह को वहाँ मँगाने का वह आदेश किस की गलती से हुआ? एक गाँधी के अभाव में सारी मानवता कराह कराह कर कह कह रही है कि—

हुती जे फूल री मन में—कमल ने तोड़ लेणो हो,
हुती जे रूप री मन में—पूनम रो चाँद लेणो हो!
हुती जे जोत री मन में—सूरज ने माँग लेणो हो,
हुती जे मिनख री मन में—तो कोई भूप लेणो हो!

इन उदाहरणों के रूप में ये पंक्तियाँ इस बात को दावे के साथ प्रमाणित करती हैं कि बापू की मृत्यु पर भी अच्छी कविताएँ लिखी जा सकती हैं—कोई लिखने वाला चाहिये। बापू में अपने तईं कोई दोप नहीं, दोप है केवल लिखने वाले हाथों का। खादी के फूलों, और सूत की मालाओं का भुलावा देकर, किताब में इधर उधर गप्पें हाँकने से काम नहीं चलता।

स्वयं बच्चन ने जाने या अनजाने 'चकबस्त' की एक कविता का उदाहरण देकर यह बतला दिया है कि किसी नेता की मृत्यु पर इतनी अच्छी कविता भी लिखी जा सकती है। 'चकबस्त' की इस कविता ने पूरे पाँच पृष्ठ खा डाले हैं—और बच्चन का उद्देश्य भी यही था; जैसे तैसे भूमिका के रूप में दो पंक्तियाँ लिख कर फिर 'चकबस्त' की सारी कविता को योंका यों उद्धृत कर दिया :—

'चकबस्त' याद आते हैं मुझ को बार बार,
चक्कर दिमाग में करते हैं उनके अशार,
"सदा यह आती है फल, फूल और पत्थर से,
जमीं पे ताज गिरा क़ौमे हिन्द के सर से!
तुझी को मुल्क में रोशन दिमाग़ समझे थे,
तुझे ग़रीब के घर का चिराग़ समझे थे!
जो आज नश्मोनुमा का नया जमाना है,
यह इन्क़लाब तेरी उम्र का फसाना है!

वतन की जान पे क्या क्या तवाहियाँ आईं,
उमँड़-उमँड़ के जहालत की बदलियाँ आईं!
चिराग़ अम्न बुझाने को आँधियाँ आईं,
दिलों में आग लगाने को बिजलियाँ आईं!
इस इंतशार में जिस नूर का सहारा था,
उफ़क़ पे क़ौम की वह एक ही सहारा था!

हदीसे-क़ौम बनी थी तेरी जबाँ के लिये,
जबाँ मिली थी मुहब्बत की दास्ताँ के लिये!
खुदा ने तुझको पयंबर किया यहाँ के लिये,
कि तेरे हाथ में नाक़ूस था अजाँ के लिये!

खुदा के हुक्म से जब आवो-गिल बना तेरा,
किसी शहीद की मिट्टी से दिल बना तेरा!
जनाज़ा हिन्द का दर से तेरे निकलता है,
सुहाग क़ौम का तेरी चिता में जलता है!

अजल के दाम में आना है यों तो आलम को,
मगर यह दिल नहीं तैयार तेरे मातम को!
पहाड़ कहते हैं दुनिया में ऐसे ही ग़म को,
मिटा के तुझको अजल ने मिटा दिया हमको!

तेरे अलम में हम इस तरह जान खोते हैं,
कि जैसे बाप से छुट कर यतीम रोते हैं!
ग़रीब हिन्द ने तनहा नहीं यह दाग़ सहा,
वतन से दूर भी तूफान रंजो ग़म का उठा!

रहेगा रंग जमाने में यादगार तेरा,
वह कौन दिल है जिसमें नहीं मजार तेरा !
जो कल रक़ीब था वह आज सोगवार तेरा,
खुदा के सामने है मुल्क शर्म सार तेरा !

इस कविता के पहिले कुछ भूमिका और अन्त में एक लम्बा सा उपसंहार देकर कवि ने अपना काम पूरा किया। जीवन में घटित होने वाली विवशताओं का किस तरह समाधान किया जाता है—यह कोई बच्चन से सीखे।

ग़म भरी नज़म यह बार बार मैं पढ़ता हूँ,
जब जब पढ़ता हूँ—अपने मन में कहता हूँ—
गोखले-निधन पर लिखे गये यह बन्द अमर
लागू होते हैं बापू पर अक्षर अक्षर।

दृष्टा तुम थे, 'चकवस्त' नहीं केवल शायर,
दे गये उसे तुम तीस बरस पहिले ही स्वर,
जो महा आपदा हिंद देश पर आनी थी
सच कह दो, तुमको क्या यह घटना जानी थी।

तुम आज अगर होते—होना भी था मुमकिन,
तुम यौवन में ही महाकाल से हुए उऋण,
यह सदमा खाया देश बड़ा धीरज पाता,
यह आज तुम्हारे मरने पर भी पछताता।

यह है खादी के फूलों को बनाने की चातुर्य भरी कला का क्रमिक विकास, और बच्चन की, कविता लिखने के लिए विवशता ! 'चकबस्त' की कविता के आगे पीछे अपनी दस बीस तुकबन्दियाँ जोड़कर उसे जैसे भी हो विषय के अनुरूप बना लिया गया है। पर बच्चन की उस तत्कालीन विवशता में ज्योति बिलकुल ही नहीं थी। वह सर्वथा अन्धी थी ! जभी उसे यह दिखलाई नहीं पड़ सका कि सड़ी गली बोरी पर रंगीन मखमल की कारी अपनी चमक और आभा से उसकी सारी कला का पर्दा फाश कर देगी ! 'चकबस्त' की ये पंक्तियाँ हर बार मुखरित होकर यह याद दिलाती रहेंगी कि बच्चन की कविताएँ कितनी खोखली, अनुभति हीन और स्वार्थ लोलुपता से परिपूर्ण हैं।

किसी शहीद की मिट्टी से दिल बना तेरा !
वह कौन दिल है जिसमें नहीं मजार तेरा !

इन पंक्तियों का एक बार ज़रा-सा भी स्वाद चखने पर बच्चन की ये नीरस, फीकी कविताएँ आख़िर गले के नीचे उतरें भी तो किस तरह ? उस समय बेचारे बच्चन की उस विवशता ने इस परिणाम की कल्पना तक नहीं की थी ?

बच्चन की इस विवशता के अन्वेषण ने दो तरफा बिगाड़ किया है—एक तरफ तो अच्छी पंक्तियों के उद्धरण ने इन कविताओं की हीनता को प्रमाणित कर दिया, और दूसरी तरफ अच्छे-अच्छे कवियों की अमर पंक्तियों का अनुवाद करके अपनी कला के दिवालियेपन का खुला प्रदर्शन भी कर दिया।

खादी के फूल और सूत की माला के द्वारा बच्चन ने गाँधी जी की हत्या तो की ही है, पर साथ में चलते रास्ते एकाध बार बड़े बड़े कवियों के सिर पर जूता भी मार दिया।

'शैली' के बाद दूसरा जूता लगा कबीर के माथे पर !

सुर, नर, मुनि इसको तन पर लेते हैं,
दुनिया ही ऐसी है—मैली कर देते हैं,
कुछ ओढ़ जतन से ज्यों की त्यों धर देते हैं !

यह 'झीनी रे झीनी बीनी चदरिया'—का फटा हुआ रूप है। कबीर ने जिस जतन पूर्वक अपने हाथों से उस चादर को समेट कर इतने दिनों तक ज्यों का त्यों रख दिया था—उसको बच्चन ने बड़ी आसानी से अपने हाथों, इस तरह टुकड़े टुकड़े करके बिखेर दिया !

तुम उठा लुकाठी खड़े हुए चौराहे पर,
बोले, वह साथ चले जो अपना दाहे घर।

कबीर के उस दोहे का अनुवाद करके बच्चन ने यह दिखला दिया कि शब्दों का हेर फेर भाव की गहराई को कितना छिछला कर देता है—

कवीरा खड़ा वजार में लिये लंगोटी हाथ,
जो घर फूंके आपना, चलो हमारे साथ !

'वाजार' का केवल 'चौराहे' कर देने मात्र ही से दोहे का आधे से अधिक आनंद चौपट हो गया ।

'जो घर फूंके आपना' में जो एक दृढ़ता भरी चुनौती का आह्वान है—वह 'जो अपना दाहे घर' में नहीं ? अर्थ एक ही है—पर वात एक नहीं ! वच्चन की पंक्तियों में निर्बलता, झिझक और कुछ कायरपन का आभास मिलता है ।

कवीर के सिर पर जूता लगाने के वाद तुलसी के गाल पर भी एक तमाचा जड़ दिया गया है—

वन गमन समय मुनियों का वेश वनाये,
जव सीता पति गंगा तट पर थे आये,
केवट ने उनको थे यह वचन सुनाये—
'हैं एक तरह के हम दोनों व्यवसायी,
तुम भव सागर,
मैं सरि से
पार लगाता !'

थे कहाँ राम भगवान, कहाँ था केवट,
था भक्ति भावना से ऊभा—चूमा घट,
निकले थे वैना, प्रेम लपेटे अट पट,
(शब्दों ने नापी कव दिल को गहराई ?)
मैं उसी मनस्थिति
मैं अपने को
पाता !

शब्दों से दिल की गहराई भले ही न नापी जा सके, पर वच्चन भैय्या इन शब्दों से आपकी काव्य कला का पार तो हम एक सैकिंड ही में पा गये ? और उसकी थाह का पता तो कनिष्ठा अंगुली ही से लगा लिया

गया। आपने तुलसी दास की उन पंक्तियों के शब्द क्या बदले—उसके प्राण ही निकाल लिये! उस पर सफाई देते हैं कि शब्दों से दिल की गहराई थोड़े ही नापी जा सकती है! थोड़ी देर के लिये यदि बच्चन के इस सिद्धांत को सही मान लिया जाय—तो फिर कम से कम इस प्रश्न का उत्तर तो मिलना ही चाहिये कि तो फिर स्वयं बच्चन ने एक ही नहीं दो किताबों में इतना लम्बा चौड़ा शब्द जाल क्यों रचा? जब शब्दों से दिल की गहराई नहीं नापी जा सकती तो उन्हें एक दम से मौन ही रहना था! पर उन्होंने वैसा किया नहीं—इस लिये इन तर्कों के द्वारा, बापू की हत्या के आरोप से उन्हें किसी भी उदारता पर बरी नहीं किया जा सकता!

बापू पर उठाई गई पिस्तौल की आवाज में, बच्चन के कानों को रुपयों की मधुर झनकार सुनाई दी! और उनके शरीर से निकले हुए खून में, एक नई टकसाल को उन्होंने खोज निकाला! बापू क्या मर गये—बच्चन की लेखनी को एक वरदान सौंप गये! वरदान—पैसों का, वरदान—रुपयों का और वरदान—सोने का!

हो गया गर्व भारत का आज चूर
कल कटा देश, चल वसा देश का आज नूर

जो मरे–कटे वे कैसे वापस आ सकते,
हल, चलो मिला तुमको इस आफत का **सस्ते**।

भारत माता का सवसे प्यारा वड़ा पूत,
हो गया एक के पागलपन से परा भूत।

वह एक नहीं, वह सदियों का है अंधकार,
जिससे वापू हमको लाये **मर–पच–उवार**

वह थे भविष्य भारत के दुर्जय प्रेम प्रतीक,
यदि कवि के मन में इस घटना का अर्थ ठीक

मरना जीवन की एक वड़ी लाचारी है,
उसके आगे **खिल्क़त ने मानी हारी है।**

अपने जीवन पर्यंत वापू संघर्षों के साथ झूंझते रहे शायद वह संघर्ष ही उनके जीवन का सवसे वड़ा एश्वर्य था–पर उनकी मृत्यु के वाद इस तरह की कविताओं ने उनकी रक्त सनी लाश को और भी विकृत कर दिया–उनकी मृत्यु सार्थक नहीं हो पाई। वापू की मौत के कारण उसकी दुहाई देकर वच्चन को जैसे यह अधिकार मिल गया कि वह चाहे तो शब्दों को भी विकृत वना कर, तोड़ मरोड़ कर अपनी सुविधा के लिये उन्हें काम ला सकता है। जव वापू ही मर गये–तो फिर इन निर्जीव शब्दों के साथ कैसा मोह ? शायद इसी कारण वच्चन ने शब्दों के साथ भी मन माना वलात्कार किया !

'मर–पच–उवार' जैसे शब्दों का भी स्वच्छंदता के साथ कविता में प्रयोग किया गया है। 'लाचारी' के साथ जोड़ विठाने के लिये 'हार' शब्द को ठोक पीठ कर 'हारी' तक वना डालने में भी वच्चन को संकोच नहीं हुआ, 'लाचारी'

के साथ तुक बिठाना भी तो एक लाचारी ही थी। भूख लगने पर मनुष्य घास और वृक्षों के छिलके तक खा डालता है, तब क्या बच्चन की लाचारी को इतना भी अधिकार नहीं कि वह 'हार' शब्द को बिगाड़ बिगूड़ कर उससे 'हारी' शब्द का अनुसंधान करले ! बड़े कवि यदि ग़लती भी कर लें तो उन्हें रोकने वाला कौन बैठा है ? उस म्यांऊ के ठौर को पकड़ने के लिये किसके हाथ आगे बढ़ सकेंगे ? शायद इसी निर्भयता के आधार पर उन्होंने अपनी मन चाही की है; हिन्दी के शब्द कोप को चनौती दे सकने का दुस्साहस किया है !

जिन आँखों में करुणा का सिंधु छलकता था,
सबको अपनाने का सद्भाव ललकता था,
जिन आँखों में स्वर्गों का नूर झलकता था।

जिस जिह्वा से ऐसा जीवन रस गरता था,
पीड़ा हर, युग युग के घावों को भरता था,
जिस जिह्वा से अमृत का निर्झर झरता था,

वे गाँधी भारत कब अनुमान जाता है,
वे गाँधी भारत कब पहिचाना जाता है।

हमने मिथ्या से सत्य नापना चाहा था,
हमने हिंसा से सिंधु दया का थाहा था,
खुदगर्ज़ी से फ़ैयाज़ी को अवगाहा था.

यह संप्रदायन एक बड़ा गुब्बारा था,
उसने अपने को इस गति से विस्तारा था।
मंत्र मुहब्बत का दोनों के कानों में बिठला के !

थी राजनीति वया, छल-बल सिद्ध अखाड़ा था।
गाँधी जी ने उसमें घुसकर हुंकारा था,

वे कहते थे दुश्मन को बस वह जीत सका,
जो प्रेम-मुहब्बत से कर उसको मीत सका।

किसके मरने पर जग भर को पछताव हुआ ?
किसके मरने पर इतना हृदय मथाव हुआ ?
किसके मरने का इतना अधिक प्रभाव हुआ ?

यह दिल्ली कौरव–पांडव के वल तेजों की,
चौहान, तुर्क, मुगलों की औ अंग्रेजों की,

आक्रमण, संधि, वलवों की, गोली मेजों की !

कहता था, कितने लोग देश के हैं अजान,
जो लाख–लाख आते वस करने को नहान !

वो मिट गये, ये है बना,
वो हट गये, ये है अजय !

जो मिला उन्होंने कव अपने तक ही रक्खा,
उसका सारे भारत ने, जग ने रस चक्खा,

डूवा है घुप्प अंधेरे में विरला घर
वस एक वल्व जलता वापू के मुँह पर

प्रभु अपने नीचों को भी आदरते हैं !

अव क्यों कोई दुनियाँ में उससे अनुरागे,

हम, हाय, एक के ऊपर कितना ऐंठे थे,

कुछ लिखे–छपे कागज पत्तर मिल जायेंगे,

काव्य प्रवाह की उच्चतम वानगियों के स्वाद में कहीं रस भंग न हो जाय, केवल इसी डर से उनके वीच वीच में अपनी 'नीरस' आलोचना का अवरोध मुझे उचित नहीं भी जान पड़ा। यों कहने के लिये बहुत सारी बातें थीं, पर

बड़ी मुशकिल से अपने पर नियंत्रण रखने के लिये समर्थ हो सका हूँ ! संयम की महता सहज में प्राप्त थोड़े ही होती है !

कविता लिखना जिसके जीवन की विवशता हो, और उस विवशता का बाहरी रूप इस तरह की अभिव्यंजना ही हो, तो उस विवशता को अर्थ लोलुपता के अन्यथा और क्या कहकर पुकारा जा, सकता है ? केवल रुपयों की चोट पक्की करने के लिये हिन्दी के कुछ शब्दों व अभिव्यंजना शक्ति को बिगाड़ बिगाड़ कर विकृत कर बच्चन ने अपने पतन की उस चरम सीमा का अंतिम किनारा तक दिखला दिया है कि यदि उसके बदले में कोई क्रोध के वशी भूत होकर बच्चन के अंग-प्रत्यंगों को विकृत कर-डाले, तो भी वह क्षम्य है ! क्या रुपयों का लोभ इस तरह के पाप कर्म करने की प्रेरणा भी दे सकता है, बच्चन के पहिले इस बात का साक्षी खोजना कुछ कठिन था ?

बच्चन की अभिव्यंजना शक्ति इतनी शिथिल और दोष पूर्ण हो सकती है-आँखों के सामने ये दोनों पुस्तकें होने पर भी न मालूम क्यों मन यह मानने को तैयार नहीं होना ? मधुकलश और निशा निमंत्रण के कवि पर यह विश्वास न करना ही तो संगत है !

तुकों के मिलान को लेकर इस तरह की कुश्ती तो नये से नया कवि भी नहीं करता, चाहे वह कितना ही कम लिखा लिखा पढ़ा क्यों न हो ? आज तक के जीवन में हजारों की संख्या में गुप्तजी ने तुकबन्दियों की जोड़ मिलादी पर इस तरह की जबरदस्ती तो उन्होंने कभी नहीं की ! बापू की मौत का बहाना लेकर बच्चन को शायद यह अधिकार तो नहीं मिल जाता कि वह हिन्दी के शब्दों की भी हत्या कर दे। और न इसके साथ इस बहाने ही में इतना बल है कि बापू की मृत्यु के आघात से बच्चन की बुद्धि ही जड़ हो गई-या चेतना रहित हो गई !

सोहनलाल द्विवेदी की एक कविता है–बापू के बारे में ही। वह बहुत पहिले की लिखी हुई है–जब कि बापू जीवित थे। उनकी उस कविता को बच्चन ने कितनी बार पढ़ा है, इसकी गणना मेरे लिये संभव नहीं; पर इतना दावे के साथ कहा जा सकता है कि उन्हों ने कम से कम एक बार तो उसे पढ़ा ही है–इसमें कोई संदेह नहीं। पढ़कर उसे याद नहीं भी किया हो, लेकिन उस कविता का अपने शब्दों में अनुवाद अवश्य किया है, और अनुवाद भी बहुत निम्न कोटि का।

सोहनलाल द्विवेदी की वह कविता इस प्रकार है :–

चल पड़े जिधर, दो डग मग में,
चल पड़े कोटि पग उसी ओर!
गड़ गई जिधर भी एक दृष्टि,
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर!

जिसके सिर पर निज धरा हाथ,
उसके सिर रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया
झुक गये उसी पर कोटि माथ,
हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु,
हे कोटि रूप, हे कोटि नाम–
....................!

और उनकी इस कविता का अनुवाद बच्चन ने अपनी भाषा में इस प्रकार किया है—

वह उठा तो उठ गई सब देश भर की
आँख उसकी ओर,
वह उठा तो उठ पड़ी नदियाँ विगत
अंगड़ाइयाँ ले साथ,
वह उठा तो उठ पड़े युग युग देव
दुखिया-दलित-कमजोर!

वह उठा तो उठ गई उल्लास भरी
लहरें दृगों के बीच,
वह उठा तो झुक गये अन्याय
अत्याचार के अभिमान!

*

इसी तरह की एक चोरी से संबंधित मुझे एक बात याद आ गई, जिसका उल्लेख बहुत कुछ तथ्य को स्पष्ट कर सकेगा।

मैंने एक किराये की साइकिल ली थी, और वह मुझसे खो गई। एक मुसलमान तेली चोरी करके ले गया था—पर इस बात का पता लगा था करीब आठ-नौ महीने बाद!

उस तेली ने बहुत कुछ उस साइकिल को बदल दिया था। रंग काले से पीला कर दिया। हैंडिल बदल दिया—सीट भी बदल डाली। पत्थरों की रगड़ से उसको बहुत कुछ बिगाड़ भी दिया था। पर उसके दुर्भाग्य से पिछले चक्के पर साइकिल वाले दुकानदार का एक निशान बाकी रह गया—जो उस तेली की दृष्टि में नहीं आया।

परिणाम जो होना था वही हुआ—उसकी चोरी पकड़ ली गई।

बच्चन ने भी उस मुसलमान तेली की तरह सोहन लाल द्विवेदी की उस कविता को विकृत बना कर, नया रंग करके उसे बदलने की चेष्टा की अवश्य—पर वे भी आखिर पकड़े गये। दुख इसी बात का है कि उन्होंने भी चोरी करके चीज को सुन्दर नहीं बनाया—बल्कि और भी उसे खराब कर दिया।

गड़ गई जिधर भी एक दृष्टि,
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।

इन पंक्तियों में बापू के जिस विश्वास भरे दृढ़ व्यक्तित्व का चित्रण मिलता है—वह बच्चन की इन पंक्तियों में नहीं।

वह उठा तो उठ गई सब देश भर की
आँख उसकी ओर।

लगता है कि जैसे कवि के स्वर में एक झिझक है—एक कायरता है—एक आशंका है ! इस बात को कहते हुए जैसे वह कहीं हिचक-सा रहा हो। यह चोर के स्वभाव की अपनी निर्बलता हुआ ही करती है—इसमें किसी भी तरह का व्यतिक्रम नहीं होता। चोरी करके सीनाजोरी करने वालों के दंभ में भी एक प्रकार के खोखलेपन का आभास मिल ही जाता है !

*

जितने भी कवि याद आये, उनकी जी भर कर प्रशंसा खादी के फूलों में कर दी गई, जितना भी हो सका, कवियों की कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया गया; एकाध चोरी के लिये भी बच्चन के मन को झिझक नहीं हुई; पर इतना सब होने पर भी खादी के फूलों और सूत की मालाओं की मन वांछित संख्या बढ़ नहीं पाई ऐसे सुअवसर तो जीवन में बार बार आने से रहे और इन्हीं विषयों पर ज्यादा खींचातानी करने से बात बिगड़ जाने का ही डर था—लेकिन सौभाग्य शाली बच्चन को हर बार नया मसाला मिलता ही रहा। कवियों को छोड़ते ही बच्चन ने दूसरे हाथ से झपट कर 'रामधुन' को पकड़ लिया—और उसका बहुत अच्छा सदुपयोग किया गया। जब जब भावों और विचारों की कमी हुई, नई कविता के लिये जब कुछ देर तक और कोई सहारा नहीं मिला तो उस समय 'रामधुन' ने बहुत ही आड़े वक्त पर बच्चन का साथ दिया।

रघुपति राघव राजा राम
पतित पावन सीता राम।

क्या सूत की माला और क्या खादी के फूल, हर सात, आठ या ज्यादा भी हुआ तो दस कविताओं के बाद, रामधुन की इन दोनों बनी बनाई पंक्तियों को कविता के आरम्भ में धर कर, बच्चन ने अपनी हिम्मत और अपने हुनर से बहुत सारी कविताएँ बना ली हैं। लगता है कि जैसे रामधुन की इन पंक्तियों से सर्वत्र मोर्चाबन्दी या किला बन्दी की गई हो। सात सात या आठ आठ कविताओं को आगे और पीछे से रामधुन के द्वारा जकड़ लिया गया है।

माना कि बापू को यह रामधुन बहुत ही प्यारी थी, पर उनकी इस प्यार भावना की ओट में, सूत की माला और खादी के फूल के भीतर बच्चन के

हृदय की जो कलुषित व्यवसायी भावना छिपी है, उसको भी छिपाया नहीं जा सकता।

यदि कहीं रामधुन की इन दो पंक्तियों के इस आधिक्य का तनिक सा भी बच्चन को आभास हुआ नहीं कि उसने आगे की इन दो पंक्तियों को काम में लाकर फिर इसके द्वारा कविता पूरी करदी।

ईश्वर अल्ला एक-हि नाम,
सबको सन्मति दे भगवान !

सरि-संगम, वन-गिरि-आश्रम से,
ऋषियों ने जो कहा पुकार,
आज उसी को दुहराता है, यह भंगी वस्ती का संत
एक सद्विप्रा वहुधा वदंत,
ईश्वर अल्ला, एक-हि नाम,
सबको सन्मति दे भगवान।

रामधुन के अन्यथा गांधी जी को एक और वस्तु से प्यार था—वह थी गीता, और उससे भी बच्चन ने भरपूर लाभ उठाया है।

भेद अतीत एक स्वर उठता
नैनं दहति पावक :
निकट, निकटतर और निकटतम
हुई चिता के अरथी, हाय
वापू के जलने का भी अब आंखें देखो, दृश्य दुसह,
भेद अतीत एक स्वर उठता—
नैनं दहति पावक : !

सुन दिगंत से ध्वनि आती है—
न हन्यते न हन्यमाने शरीरे—

टुकड़े टुकड़े हाय, हो गई,
राम नाम की माला,
बापू के कोमल वक्षस्थल पर पिस्तोल चली रे.
सुन दिगंत से ध्वनि आती है–
न हन्यते न हन्यमाने शरीरे।

सदियाँ भेद एक स्वर कहता–
नैनं छिंदंति शस्त्राणि–

तीन धड़ाके हुए हाय,
बापू हो गये धरा शायी
जीवन दानी के चेहरे के ऊपर छाई मुर्दानी
सदियाँ भेद एक स्वर कहता–
नैनं छिंदंति शस्त्राणि !

गीता के एक ही भाव विशेष से संबंधित बच्चन ने अलग अलग से इन पर आधारित करके तीन कविताएँ बनाई हैं। तालिका में जिनका क्रम भी कोई पास पास नहीं, काफी दूर दूर रखा गया है। पर इन तीनों को एक साथ रख कर देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि एक ही बात को कुछ हेर फेर करके बदल लिया गया है–और कुछ भी नहीं, पर इससे क्या–'सूत की माला' के धागों की संख्या तो बढ़ी ही है। कोई मुझे यह समझा कर बतलाये कि इन तीनों बातों में किस स्थान पर भावों का क्या अंतर पड़ता है ? अक्षरों के अन्तर को तो मैं खुद ही स्वीकार कर रहा हूँ।

१. भेद अतीत एक स्वर उठता
नैनं दहति पावकः !
२. सुन दिगंत से ध्वनि आती है.
न हन्यते न हन्य माने शरीरे।
३. सदियाँ भेद एक स्वर कहता.
नैनं छिंदंति शस्त्राणि ···

और इसके साथ में यह भी समझाये कि वापू के कोमल वक्षस्थल पर पिस्तोल चलना और तीन धड़ाकों से बापू का धराशायी हो जाना, इस एक बात को अलग अलग स्थानों पर उसी तरह दोहराने की ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी कि जिसको टाल सकना वच्चन के लिए संभव नहीं था।

यदि वच्चन के हृदय में ऐसी ही पवित्रता थी तो फिर एक ही भाव पर आधारित, इन तीनों कविताओं को एक ही साथ पास पास रख दिया होता। उन्हें बहुत दूरी पर रखना इसी बात का द्योतक है कि वच्चन न अपने प्रति ईमानदार हैं और न गाँधी जी की प्रिय वस्तु खादी और सूत के प्रति! पर, हाँ, मैं प्रकाशक के प्रति वच्चन की ईमानदारी पर सोते हुए भी अविश्वास नहीं करूँगा कि उन्होंने निश्चित समय के कुछ दिन पहिले ही इन दोनों किताबों को उसके हवाले न कर दिया।

अपनी ही प्रेरणा की विवशता के वशीभूत होकर लिखी गई कविताओं में इस तरह की सतर्कता, सजगता और स्वार्थ युक्त चतुराई का छिपा हुआ रूप नहीं पाया जाता और न उनमें इस तरह के षड़यंत्र का जाल ही बिछा हुआ मिलता है।

इस कपटता और षड़यंत्र के व्यवसाय में जो कुछ भी कमी रह गई, वह इन पंक्तयों को वारवार काम में लाकर पूरी कर दी गई है—

राम हरे, हे राम हरे,
राम हरे, हे राम हरे!

इन पंक्तयों से भी बहुत बार, बहुत सारी कविताओं के आरंभ में काम निकाला गया है। सो इस तरह से वच्चन ने आठ दस गुर अपनी पिटारी में भर रखे हैं, जब भी जरूरत पड़ी, उनमें से एक को निकाल कर उसका अच्छा खासा उपयोग कर लिया गया।

एक ही तरह के इन इतने सारे उदाहरणों की आवश्यकता इस लिये पड़ी कि जिनसे सहज ही में पता चल सके कि इन दो या चार कविताओं की रचना करने में, जो एक क्रमिक षड़यंत्र चला है, वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाय। जिस सफाई और चालाकी के साथ इन कविताओं का निर्माण हुआ है, उस बात की जानकारी एक बहुत ही मनोरंजन का विषय है!.

उस व्यक्ति के प्रति मैं अभी से आभार प्रदर्शित किये देता हूँ–जो मुझे इस बात की सूचना दे सके कि हिन्दी की प्रकाशित पुस्तकों में इन नीचे के उद्धरणों से निम्न कोटि की रचनाएँ छप चुकी हैं; (सिवाय 'निराला' की पुस्तकों के) तब तक उस जान कारी के पहिले में यह कहने में स्वतंत्र हूँ, केवल स्वतंत्र ही नहीं सही भी हूँ कि कम से कम मेरी आँखों ने उस तरह की कविताओं से साहचर्य प्राप्त नहीं किया। यह इनका परम सौभाग्य ही है!

हम बापू को कब तक रख सकते थे अगोर,
है जन्म-निधन जीवन डोरी के ओर छोर,
कितना महान् आदर्श हमें वे गए छोड़!

गद्य—(हम बापू को कब तक अगोर रख सकते थे, जन्म-निधन, जीवन डोरी के ओर छोर हैं। हमें वे कितना महान् आदर्श छोड़ गये)

बापू तुमसे यह अंतिम विनय हमारी है।
यद्यपि इसका यह देश नहीं अधिकारी है!

गद्य—(बापू तुमसे हमारी यह अंतिम विनय है, यद्यपि यह देश इसका अधिकारी नहीं है)

बापू के अवसान पर जब मन दुखित-उदास,
धीरज देते हैं हमें बाबा तुलसी दास!

गद्य—(जब बापू के अवसान पर मन दुखित व उदास होता है, तो बाबा तुलसी दास हमें धीरज देते हैं)

है गाँधी हिन्दु जनता का दुश्मन भारी,
वह करता है तुरकों की सदा तरफ दारी,

उसका प्रभाव हिन्दुत्व के लिये भय कारी
यह वात घुसी कुछ घूमे उलटे माथो में !

गद्य--(गाँधी हिन्दू जनता का भारी दुश्मन है। वह तुरकों की सदा तरफ दारी करता है। हिन्दुत्व के लिए उसका प्रभाव भयकारी है। यह वात कुछ उलटे घूमे माथों में घुसी)

वहती थी जिसके वीच प्रेम की धारा,
गाँधी ने लाखों नारि नरों को तारा

गद्य--(जिसके वीच प्रेम की धारा वहती थी। लाखों नर नारियों को गाँधी ने तारा था।)

नरसी मेहता का गीत रेडियो गाता है,
जो वैष्णव जन के गुण लक्षण वतलाता है,
पद पद पर चित्र तुम्हारा आगे आता है।

गद्य--(रेडियो नरसी मेहता का गीत गाता है। जो वैष्णव जन के गुण लक्षण वतलाता है। तुम्हारा चित्र पद पद पर आगे आता है)

निंदा न किसी की भी की, नित साधू वन्दे,
काटे तुमने पग पग पर, तृष्णा के फंदे,
मिथ्या के मुख, विषयों से चित न किये गंदे।

गद्य-(उन्होंने किसी की भी कभी निंदा नहीं की। पग पग पर उन्होंने तृष्णा के फंदे काटे। झूठ वोल कर उन्होने अपना मन गंदा नहीं किया)

निर्भय हो कर अव चल न सकेगी अच्छाई,
सव काल रहेगी सुंदरता अव शरमाई,
झूठे पन को अव मान करेगी सच्चाई।

गद्य-(अव अच्छाई निर्भय हो कर न चल सकेगी। अव सव काल सुंदरता शरमाई रहेगी। अव सच्चाई झूठे पन को मात करेगी)

अपने ईश्वर पर उसको बड़ा भरोसा था,
सपने में भी उसने न किसी को कोसा था।

गद्य–(उसको अपने ईश्वर पर बड़ा भरोसा था, उसने सपने में भी किसी को कोसा नहीं था)

कोई यह समझने की नादानी न करे कि बच्चन की कविताओं का भाव बहुत कठिन होने के कारण, मैं उसका अर्थ करते हुए उसे गद्य की सहज अभिव्यंजना दे रहा हूँ। मेरा मतलब केवल यही दिखलाने का है कि बच्चन की काव्य रचना कितने मामूली से उलट फेर से ही विशुद्ध गद्य का रूप धारण कर लेती है। केवल तीन चार शब्दों का स्थान बदलने मात्र ही से बड़े गहन परिश्रम से की गई बच्चन की कविता एक साधारण से भाव हीन गद्य में परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टिकोण से यदि गद्य और पद्य में यही अन्तर है–तो फिर पद्य की अपनी कोई भिन्न महत्ता ही नहीं रह जाती। इस तरह के पद्य की रचना करने वाले को 'कवि' नहीं 'बेवकूफ़' या मूर्ख कहना चाहिये।

पिछले कुछ वर्षों में कितना कीचड़ उछला,
हो गया कलंकित कितनों का मुखड़ा उजला!

गद्य–(पिछले कुछ वर्षों में कितना कीचड़ उछला 'था'। जिससे कितनों का उजला मुखड़ा कलंकित हो गया था)

पहिली पंक्ति में 'उछला' के आगे केवल एक शब्द 'था' लगा देने मात्र ही से वह गद्य की पंक्ति बन जाती है। उससे रत्ती भर भी भाव में अंतर नहीं आता– दोनों में समान रूप से भाव का–नहीं-नहीं शब्दों का बोझ है–बल्कि गद्य की पंक्ति में एक शब्द 'था' का बोझ बढ़ा ही है–घटा नहीं।

जो काम अधूरा उसने अपना छोड़ा था,
जिसमें हमने ही अटकाया रोड़ा था।

गद्य—(उसने अपना जो काम अधूरा छोड़ा था। जिसमें हमने ही रोड़ा अटकाया था)

पापों की ऐसी चली धार दुर्दम-दुर्धर,
हो गये मलिन निर्मल से नद निर्झर,

वह शुद्ध छीर का ऐसा था सुस्थिर सीकर।

गद्य—(पापों की ऐसी दुर्दम-दुर्धर धार चली कि उससे निर्मल नद और निर्झर तक मलिन हो गये-पर उस समय भी गांधी जी विशुद्ध स्वच्छ जल के सीकर बने रहे।)

जब कि भारत भूमि थी भीषण तिमिर में आवृता,
जब कि अपनी शक्ति का भी था नहीं उसको पता।
तब कहा तुमने कि है परतंत्रता भारी खता,
और मार्ग स्वतंत्रता का भी दिया सीधा बता।

गद्य—(जब कि भीषण तिमिर में भारत भूमि आवृत थी, जब कि हमको अपनी शक्ति का भी पता नहीं था, तब तुमने कहा कि परतन्त्रता भारी खता है, और स्वतन्त्रता का सीधा मार्ग भी तुमने बता दिया था)

नेता, न्यायक
जन के, नायक
लेखक, गायक

अब तक तो महाकवि बच्चन का पद्य शब्दों के तनिक से हेर फेर करने मात्र ही से वह गद्य में बदलता जा रहा था, पर पिछली पंक्तियों में जो बात जितनी ही आसान थी, वह इन उपरोक्त पंक्तियों के लिये उतनी ही कठिन हो गई। ऊपर वाली इन तीन पंक्तियों के शब्दों में चाहे जाग अदला-बदली कीजिये—वह किसी भी प्रकार गद्य नहीं बन सकता। मार मार कर किसी भी मनुष्य को मुसलमान बनाया जा सकता है, पर बच्चन की इन हठीली पंक्तियों को एटम बंम का भय दिखा कर भी गद्य नहीं बनाया जा सकता। यह है सर्वश्रेष्ठ, उच्चतम, अतुलनीय काव्य का एक छोटा सा नमूना। इन शब्दों को किधर से ही पलटिये—वह किसी भी हालत में पद्य ही रहेगा। यह क्या कोई कम सराहनीय बात है ? अच्छी बात की सराहना भी तो प्रत्येक मनुष्य के लिये एक नैतिक बंधन है !

आज मारे मरें दोष किसके,
आज गुस्सा किसे हम दिखायें,

हाथ अपने स्वयं पाँव अपने,
आप मारे हुए हम कुल्हाड़ा।

गद्य—(आज किसके माथे दोष मढ़ें, आज हम किसे गुस्सा दिखायें, क्योंकि हम अपने ही हाथों, स्वयं अपने ही पाँवों पर कुल्हाड़ा मारे हुए हैं)

दुःसमाचार यह कौन कहाँ से लाया है,
गाँधी जी को गोली से गया उड़ाया है।
जा कहो उसे, है उचित ऐसा नहीं मजाक,
उसके मुँह में भर दो मिट्टी, दो पीट राख,
गाँधी की ऐसी जन-मन में है बँधी साख।

गद्य—(कौन कहाँ से यह दुःसमाचार लाया है कि किसी ने गाँधी जी को गोली से उड़ा दिया उससे वापिस जा कर कहो कि यह मजाक उचित नहीं, क्योंकि गाँधी जी की-जन-मन में ऐसी ही साख बँधी हुई है, यदि वह फिर भी नहीं माने तो उसके मुँह में मिट्टी और राख भर दो)

एक ओर तो गाँधी जी की मृत्यु की अफवाह सुनाने वाले मुख में वच्चन मिट्टी और राख भरने के लिये कहते हैं, और दूसरी ओर स्वयं वे उसी दुःसमाचार के आधार पर, उसे सत्य मान कर, उस पर दो सौ चार कविताएँ लिखने का अकथ परिश्रम भी करते जा रहे हैं, तब उस समय इस प्रश्न का कोई भी उचित उत्तर खोजे नहीं मिलता कि इस तरह का आदेश करने वाले व्यक्ति के मुँह में क्या वस्तु भर दी जाय ? मिट्टी और राख की सजा तो उसके लिये पर्याप्त नहीं !

इतने सारे उदाहरणों के बाद, वच्चन के पाठकों की बात तो दूर स्वयं वच्चन, और उसके परम आत्मीय मित्र श्री सुमित्रा नंदन पंत, जिनकी निकटता से उन्हें कलानुकूल वातावरण प्राप्त हुआ था, इन दोनों के लिये भी अब गर्मियों के सूरज के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो गया होगा कि उनकी कविताओं में शब्दों के निरर्थक बोझ के अन्यथा और कुछ भी नहीं है—तभी उनकी पंक्तियों को गद्य में लिखने से 'भाव' में कुछ भी कमी नहीं आती। कविता में भाव हो भी जो कमी आये ? तो सिद्ध है कि वच्चन की ये कविताएँ केवल गद्य का एक विकृत रूप मात्र है—और वह भी निकृष्टतम गद्य का !

मेरे अपने इस सिद्धांत को और भी अधिक निकट बनाने के लिये मुझे सूर और कबीर का सहारा लेना पड़ेगा ! इसका यह मतलब नहीं कि इन दोनों कवियों से मैं बच्चन की तुलना कर रहा हूँ। बच्चन के साथ उनकी तुलना करके, इन कवियों को अपमानित करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है—और न मैं अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का इस तरह लज्जाजनक दुरुपयोग ही करूँगा। अपनी बात को समझाने के लिये मैंने तो केवल अपने लिये ही उनका सहारा चाहा है।

हाँ, तो कबीर की एक पंक्ति है—

मेरे आगे मैं खड़ा और प्रियतम रहा छिपाय !

क्या बच्चन की तरह इस पंक्ति को गद्य में बदलने मात्र ही से उसके भाव और अर्थ की इति हो जायगी ? इस एक ही पंक्ति के सीमित शब्दों की सीमित परिधि में जिस अपरिमेय असीम भाव का जो अनंत विस्तार छिपा है—उसे गद्य की एक पंक्ति की बात तो दूर, एक सौ पृष्ठों में भी लिख कर नहीं बतलाया जा सकता ! इस बात से कोई इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे कि गद्य में भाव होता ही नहीं—या उसमें भाव का सर्वथा अभाव ही होता है—वह पद्य के समान शक्ति शाली नहीं होता। ये दोनों तो भीतर की मनस्थिति को व्यक्त करने के केवल साधन मात्र हैं। गद्य की एक पंक्ति को स्पष्ट करने के लिये सौ से भी अधिक पृष्ठों की आवश्यकता हो सकती है ! तथ्य की बात केवल यही है कि प्रत्यक्ष लिखावट के शब्दों में अदृष्ट भाव का जितना भी अधिक समावेश होगा, उसी के अनुपात में वह अभिव्यंजना—उतनी ही अधिक सुंदर होगी।

कबीर की इस ऊपर वाली पंक्ति में लगता है कि जैसे प्रशान्त महा सागर की समूची जल राशि को एक छोटी सी दवात में समेट कर रख दिया गया है—यदि उस जल को दवात से बाहर निकालने की कोशिश की जायेगी—तो वह वापिस उसी महासिन्धु का रूप धारण कर लेगा ! यह तो कुछ बात भी हुई—चाहे उसे पद्य कह दीजिये—चाहे गद्य!

इसी तरह अंधे सूर के कुछ पदों में वह ज्योति है, जिसके सामने सूर्य का आलोक भी मलिन सा नजर आता है !

मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो
भोर भई गय्यन के पाछे, मधु–वन मोहि पठायो,
चार पहर वंशी वट भटक्यो साँझ पड़याँ घर आयो,
मैं बालक बहियन को छोटो छींको केहि विधि पायो
ग्वाल वाल सब वैर पड़े हैं, बरबस मुख लपटायो!
तू माता मन की अति भौरी उनके कहि पतियायो।
.... मैं नहीं माखन खायो

न तो किसी दार्शनिक गूढ़ तत्व का समावेश ही इन पंक्तियों में है–और न किसी महान् आदर्श की ओर संकेत करने वाला कोई महान् प्रवचन ही! रात दिन के जीवन में घटित होने वाली एक साधारण सी बात, बहुत ही साधारण से शब्दों में व्यक्त की गई–फिर भी वह इतनी असाधारण है कि विश्व के समूचे काव्य साहित्य की होड़ में, सर्वोपरि साहित्य के बीच इस एक नन्हें से पद को, बिना क़िसी झिझक संकोच के रखा जा सकता है।

इन पंक्तियों को पढ़ते समय, आँखों के सामने केवल काले काले अक्षर ही दिखाई नहीं पड़ते, बल्कि आँखों की पुतलियों पर इन शब्दों के काजल का स्पर्श होते ही एक नन्हा सा सुन्दर मनोहारी बालक और उसकी माँ, दोनों ही अपने पार्थिव भौतिक शरीर का पूर्ण आकार लेकर आँखों के सामने उपस्थित हो जाते हैं।

एक बालक बड़ी तन्मयता के साथ अपने खेल में निमग्न है। सहसा उसकी माँ ने आकर उस खेल में बाधा डाली; बालक को अपने पास बुला कर उसने डाँटते हुए कहा–क्यों रे–एक पड़ोसिन शिकायत लेकर आई है कि तूने उसके घर से माखन चुरा कर खा लिया है–बोल सच बोल! तेरे मारे इन रात दिन की शिकायतों से मैं अब बिलकुल तंग आ गई हूँ–समझा।

बालक तो पहिले ही से सब कुछ समझा हुआ था। मुँह के [illegible] सा उतारने के पश्चात् वह गंभीर स्वर में अपने प्रति लगाये गये [illegible] को मिथ्या प्रमाणित करने के लिये माँ के पाँवों की ओर देख कर [illegible] लगा–नहीं माँ, मैंने तो कोई माखन नहीं खाया, और तुम्हीं बताओ न [illegible] माखन

चुराने जैसे फालतू काम के लिये मेरे पास समय ही कहाँ है ? मैं तो सुबह से शाम तक तुम्हारे ही बतलाये हुए कामों में उलझा रहता हूँ । तड़का होते ही बिना हाथ मुँह धोये मैं कितनी सारी गायों को चराने के लिये दूर दूर जंगल में लेकर जाता हूँ—और साँझ का अँधेरा पड़ने के बाद वापिस आता हूँ—फिर तुम्हीं बताओ न माँ कि माखन चुराने के लिये मुझे समय ही कौन सा मिलता है ? और यदि समय मिले भी तो, इतनी ऊँचाई पर लटकते हुए छींके में, मैं छोटा सा बालक हाथ डाल ही कैसे सकता हूँ—यह मेरे वश का उपाय भी तो नहीं । यह तो मेरे सामर्थ्य के परे की बात है माँ !

बालक अपनी सफाई पेश कर रहा था—माँ चुप चाप खड़ी उसकी बातों को सुन रही थी । सहसा बीच में टोक कर अपने बालक के अधरों पर लगे हुए मक्खन की ओर अंगुली का संकेत करते हुए कहा— बस, बस, अब चुप भी रह, बड़ा आया सत्य वादी कहीं का ? अच्छा बता तो, फिर तेरे मुँह पर लगा हुआ यह मक्खन क्या आसमान से टपक पड़ा ।

केवल एक क्षण भर ही की झिझक के बाद बालक एक दम से संभल गया । अपने होठों पर चिपके हुए मक्खन पर हाथ लगाते हुए उसने आश्चर्य मिश्रित स्वर में पुनः कहना आरंभ किया— ओ हो, तुम इस मक्खन की बात कह रही हो ? तुम तो जानती हो कि गाँव के सभी बालक मुझसे डाह करते हैं, वे सभी मेरे दुश्मन हैं, इस लिए सबने मिलकर जबरदस्ती अपने हाथों से मेरे होंठों पर मक्खन चिपका दिया ?

अपने बच्चे की इन सभी बातों को सुनकर माँ को हंसी आ गई ! माँ के अधरों पर स्नेह भरी मुस्कान देख कर बालक भी मुस्करा उठा ! वह माँ की ओर एक कदम आगे बढ़ गया- तब माँ ने भी जल्दी से आगे झुक कर उसे अपनी गोदी में उठा लिया । भावावेश में दोनों धूल भरे गालों पर जल्दी जल्दी से तीन चार चुंबन लेकर उसने उसे और भी अधिक जोर से अपनी छाती के बीच चिपटा लिया ।

पौराणिक कथा की वह माँ यशोदा और उसका पुत्र कान्हा, हजारों वर्षों के बाद भी आज सूर के इस पद में सिनेमा के चल-चित्र की तरह हमारी आँखों के सामने अभिनय करने लगते हैं । यह पद केवल अपनी आठ पंक्तियों के शब्दों तक ही सीमित नहीं, इसमें असीम भावों का विस्तार अंतर्निहित है ।

सूर और कबीर जैसे अतुलनीय कलाकारों के सहारे के प्रलोभन को थोड़ी देर के लिये दूर भी रख दिया जाय, तो भी अपने इस आधुनिक युग में कुछ कवि ऐसे भी मिल सकते हैं जिनकी कविताओं का संबल लेकर, बतलाया जा सकता है कि इन तथा कथित काव्य और वास्तविक कविता में क्या अंतर है ?

साहिर लुधियानवी की एक कविता की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

मुझे कहने दो कि मैं आज भी जी सकता हूँ,
इश्क़ नाकाम सही, जिन्दगी नाक़ाम नहीं !

प्यार, इश्क, मोहब्बत, लव और प्रेम नाम की उस रूढ़ि-गत, परंपरा से चलती हुई उस विकृत भावना के प्रति कितना जबरदस्त विद्रोह छिपा हुआ है, इन दो पंक्तियों में ! प्यार से निराश होकर, क्या समूचे जीवन की गति पर एक दम से पूर्ण विराम ही लग जाता है ? प्यार क्या समाप्त हुआ, सारे जीवन का समस्त एश्वर्य ही समाप्त हो गया ! एक नाचीज़ माशूक ने मुंह क्या मोड़ा, सारी दुनिया का आकर्षण ही जैसे लुप्त हो गया ? इस तरह के नासमझ प्रेमियों को होश में लाने के लिये, क्या उनके गाल पर यह भर पूर तमाचा नहीं है ?

इस सत्य को जैसे चुनौती ही नहीं दी जा सकती कि प्यार से निराश होने पर केवल दो कार्य ही शेष रह जाते हैं:— एक शराब की बोतल और दूसरा बाई जी का कोठा !

साहिर ने भी प्यार किया और वह भी निराश हुआ, लेकिन उसे ये दोनों ही कार्य उचित नहीं जान पड़े। क्या प्रेमी दुनिया का इतना अयोग्य और निरर्थक अपदार्थ है ? इस प्रश्न के उत्तर में एक पल भर के लिये उसके जीवन की गति में स्थिरता आ गई, और उस एक पल भर ही की गति हीनता के कारण उसका जी ग्लानि से भर गया, उसके पाँव और भी द्रुत वेग से अपने पथ पर आगे की ओर बढ़ चले ! हजारों ना समझ विवेक हीन प्रेमियों ने अपनी डग-मगाती चाल से उसके बीच में आकर उसका पथ रोकने की कोशिश की, उस के होठों की ओर सहस्रों शराब के प्याले बढ़ा दिये ! अपनी लड़खड़ाती वाणी से उन्होंने कहा कि तुम हमारे साथी होकर इस दूसरे पथ पर क्यों चल रहे हो, आओ हमारा साथ दो ! वेश्या के कोठे की ओर जाते हुए इस रास्ते पर पाँव बढ़ाओ, वहाँ बाई जी के नाच और तबले की ध्वनि में तुम अपनी पिछली बातों

को भूल जाओगे। शराब के प्याले का प्रत्येक दौर तुम्हारे पिछले जीवन पर एक एक पर्दा डालता जायेगा। अब तो बीते हुए जीवन को भुला देने ही में आगे के जीवन की सार्थकता है। एक मिनिट भर के लिये भी होश में न रहो-फिर पिछली बातें-मतलब कि मोहब्बत की दास्तानें याद ही कैसे आ सकेंगी? आओ हमारे साथी-निराश प्रेमी के जीवन की यही एक मात्र उपादेयता है।

शराब की बदबू से उसका सिर भन्ना उठा, उस दूषित वातावरण की गंदी वायु से उसको उबकाइयाँ आने लगीं, और बाई जी के कोठे का ध्यान आते ही उसका जी मितलाने लगा-तब उन बढ़ते हुए प्यालों की ओर से मुँह हटा कर उसने एक दूसरी ही वाणी के एक दूसरे ही स्वर में कहा—मनुष्य की औलाद होकर, तुम मनुष्य ही की तरह सोचना समझना सीखो। पहिले तो 'प्यार' करना ही इंसान की सबसे बड़ी गलती है और फिर 'प्यार' से निराश होकर, इस तरह जिन्दगी बसर करना उसके बेहया पन की निशानी है!

प्यार से नाकामयाब होने मात्र ही से क्या तुम्हारे जीने का अधिकार ही छिन गया? अकेले 'प्यार' की निराशा, जीवन की सभी मधुरतम आशाओं पर पानी नहीं फेर सकती! प्यार के अलावा भी जिन्दगी में बहुत कुछ अच्छी से अच्छी बातें करने को हैं, बहुत कुछ सोचने को है, समझने को है। मोहब्बत की निराशा के बाद भी मुझे जीने का अधिकार है-और मैं जीऊँगा-सफलता के साथ जीऊँगा!

परम्परा से चलती आई उस निर्मूल प्यार की तथ्यहीन वकालत की थोथी बुलन्दगी को चुप करते हुए उसने दृढ़ विश्वास भरे अटल स्वर में जोर देकर कहा-

मुझे कहने दो कि मैं आज भी जी सकता हूँ
इश्क़ नाक़ाम नहीं जिन्दगी नाक़ाम नहीं।

इस जोश भरी वाणी के धक्के ने हजारों प्याले आपस में टकरा कर चूर चूर हो गये, शराब की बोतलें जमीन पर लुढ़क पड़ीं-और उन सभी शराबी मजनुओं को ठोकर मारता हुआ वह अपने पथ पर आगे बढ़ चला। एक बार भी उसने पीछे घूम कर नहीं देखा कि उसके 'प्यार' का क्या हुआ?

और उसका पथ रोकने की धृष्टता करने वाले उन सभी निराश प्रेमियों

के मुँह पर थूकता हुआ वह चौगुने उत्साह और आनन्द के साथ अपने मार्ग पर निरंतर वढ़ता ही गया—वढ़ता ही गया !

साहिर लुधियानवी की इन दो पंक्तियों का मैंने अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अर्थ करने की कोशीश की, लेकिन मेरी अपनी निर्वलता और किसी की आँखों से भले ही छिपी हो, पर मेरी आँखों से छिपी नहीं है, सो मैं जानता हूँ कि जो वात इन पंक्तियों में है—उसका दसवाँ हिस्सा भी मैं व्यक्त नहीं कर सका—पूरी कोशीश करूँ तो दस वीस पृष्ठों में इसमें के विनिहत भाव को वाहर निकाल कर रख भी सकता हूँ—लेकिन यह इसके लिये उपयुक्त स्थान नहीं भी है ।

लेकिन अपने मतलव के तथ्य को हृदयंगम करने के लिये कम से कम मुझे यह तो कहना ही पड़ेगा कि इन दो पंक्तियों में एक भी शब्द इतना निर्वल और अशक्त नहीं कि जिसको वदल कर उसके वदले में कोई भी इससे अच्छा शब्द रख दिया जाय, और इसके प्रवाह में किसी भी प्रकार की शिथिलिता न आये । मैंने सप्ताह भर से कुछ अधिक समय तक ही यह प्रयास किया कि 'मुझे कहने दो' के स्थान पर कुछ तीन या दो शब्द दूसरे विठा कर रख दूँ—कि जिससे ऊपर वाली पंक्ति का सौंदर्य रंचमात्र भी कम न हो—पर मैं ऐसा कर नहीं सका—और इसकी मुझे वहुत ही ज्यादा खुशी हुई और अव मैं अपने विश्वास के साथ यह दावा करने के अधिकार में हूँ कि हिन्दी के सभी कवि—साल भर के अकथ परिश्रम के वाद भी 'मुझे कहने दो' के वदले में कोई दूसरी वात कह नहीं सकते—वशर्ते कि इस पंक्ति के वल में किसी भी प्रकार की कमी न आये ।

तो सूर, कवीर और लुधियानवी की इस कुछ हलकी सी पृष्ठ भूमि को इसलिये अनिवार्य होना पड़ा कि जिसके सहारे अपरोक्ष रूप से मैं अपने पाठकों को तनिक सा यह आभास दे सकूँ कि जिस माप दंड को लेकर मैंने वच्चन, पंत और नरेन्द्र शर्मा को परखने की कोशिश की है—वह कैसा है ? और उसकी लम्वाई के पास खड़े होने से वास्तव ही में इन तीनों कवियों की ऊँचाई किस सीमा तक हास्यास्पद है—यह केवल मेरे कहने ही से नहीं, वल्कि स्वयं पाठक अपनी आँखों देखकर इस सत्य को जान सकें—तो ज्यादा अच्छा रहेगा !

रेडियो सुनाता है यह कैसा समाचार,
खिचते जाते मेरे अन्तर के तार तार,

गद्य—(रेडियो यह कैसा समाचार सुनाता है 'कि जिससे' मेरे अन्तर के तार तार खिचते जाते हैं')

बच्चन की लेखनी से लिखी इन पद्य की पंक्तियों की अपनी लेखनी से यों का यों उन्हीं शब्दों के साथ, गद्य में लिखने के बाद भी मैं अपनी इस कमज़ोरी को सबके सामने स्वीकार करने में तनिक भी झिझक नहीं करूँगा कि यदि मेरे परीक्षा पत्र में इन पंक्तियों का अर्थ करने के लिये कोई प्रश्न आ जाय तो—मैं लाख कोशिश करने पर भी इनका अर्थ नहीं कर सकता; परीक्षा में फेल होने का भय भी मुझे कुछ भी वहाँ लिख दे सकने का बल नहीं दे सकेगा! इन पंक्तियों में कोई अर्थ है ही नहीं—फिर भला कोई चाहने पर भी इनका अर्थ कर ही कैसे सकता है? अर्थ का अनर्थ करने की संभावना को सत्य माना जा सकता है—पर जिन पंक्तियों में अर्थ ही न हो, तो फिर उसका अन्वेषण यों ही कैसे किया जाय? इन पंक्तियों में एक भी ऐसा शब्द कठिन नहीं कि जिसका शाब्दिक अर्थ कोई भी छठी क्लास का लड़का न जानता हो, पर शब्दकोष से अलग हट कर यहाँ इस जगह बच्चन के हाथों इन पंक्तियों में उन्हें इस तरह जोड़ने के बाद—उनका तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता!

प्रश्न यह है कि ऊपर वाली इन पंक्तियों में ऐसी कौन सी बात है जो इन शब्दों की तह में छिपी हुई है—सो उसका अर्थ करने की आवश्यकता जान पड़े। यों ये दोनों पंक्तियाँ अपने आप में पूर्णतया स्पष्ट और सहज हैं। किसी पद्य के उन्हीं शब्दों को अपने गद्य में लिखने मात्र भर से मैं उसका अर्थ होना नहीं समझता। पंक्तियाँ कठिन हों तो उनका शाब्दिक अर्थ भी किया जा सकता है—जिससे विद्यार्थी के शब्द ज्ञान का पता चल सके। पर बच्चन की कविताओं में यह बात भी तो नहीं!

जिस संध्या को बापू जी का बलिदान हुआ,
वल्लभ भाई का दिल्ली से व्याख्यान हुआ!

अब यदि कोई पूर्ण ईमान दारी के साथ इस तरह की पंक्तियों का अर्थ करना चाहे तो भी क्यों कर कर सकता है? "जिस संध्या को हमारे पूज्य बापूजी

का बलिदान हुआ, ठीक उसी समय दिल्ली से बल्लभ भाई का व्याख्यान हुआ।" इसके आगे और भी तीन चार पंक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं– पर क्या उस वृद्धि के बाद भी उसे इन पंक्तियों का अर्थ कहा जा सकेगा? यदि कविता या और भी किसी गद्य-खंड के अर्थ का मतलब केवल इतना ही हैं तो फिर बिचारे बच्चन की इन दो छोटी सी पंक्तियों ही में क्या बुराई हैं कि उसे पलट कर दूसरे शब्दों में लिखना जरूरी हो जाता हो।

शायद इस नीचे लिखे उदाहरण के पश्चात यह बात और भी अधिक सहज और स्पष्ट हो जायेगी! तीसरी या चौथी कक्षा के विद्यार्थी की बात तो दूर यदि स्वयं बच्चन ही को इस गद्यांश का अर्थ करने के लिये कहा जाय तो, वे भी नहीं कर सकेंगे।

"मैं सुबह सात बजे उठा। उठने के बाद मैंने हाथ मुँह धोया। सर्दी अधिक होने के कारण स्नान नहीं किया। उसके बाद नौ बजे तक पढ़ता रहा। दस बजे खाना खाकर मैं स्कूल चला गया।"

अब करिये बच्चन साहब इन पंक्तियों का अर्थ। नहीं तो अपने मित्र पंत जी की भी सहायता ले लीजिये!

यदि आप दोनों मिलकर भी इन पंक्तयों का अर्थ नहीं कर सकते—तो फिर ईमानदारी की बात तो यह है कि आप यह निसंकोच स्वीकार कर लें कि आपकी ये दो सौ चार कवितायें इस गद्यांश से तिल भर अधिक अच्छी नहीं हैं और न मैं उन्हें इससे कुछ कम ही कहना चाहूँगा। अन्तर केवल इतना ही है कि आपकी पंक्तियों के पीछे का जोड़ मिलता है–उनकी तुकें मिलती हैं–और इस गद्यांश में यह सब कुछ भी नहीं।

*

यह जितना भी मर्मान्तिक उतना ही सच्चा,
शांत, पापं, जो बिना दांत का था बच्चा,
करुणा ममता सी मूर्तिमान मा का कच्चा

बापू जी के जीवन का था हर एक श्वास,
अपने प्रभु के पद–पद्मों का दासानुदास।

बड़ भागी वह इस पृथ्वी पर कहलाता है,
जो काम देश के और जाति के आता है !

थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि यह गुप्त जी की चोरी नहीं है, पर बच्चन के हिमायती आखिर किस तरह इन पंक्तियों की निर्बलताओं को अपनी ओर से बल दे सकेंगे ?

वह दुनिया में बड़ भागी है उनसे बढ़ कर,
जो अपने आखीरी दम तक करता संगर,
करके पूरा कर्त्तव्य, खुशी से जाता मर।

इस तरह छा गया उस संध्या में सन्नाटा,
जैसे कि महा विषधर ने उसको हो काटा।

गाँधी बाबा दुहराते थे यह बार बार,
कोई पायेगा नहीं मुझे तब तलक मार,
जब तलक नहीं होती है अल्ला की मर्जी।

हो गया चिता में भस्म पिता का चोला,
सीने सीने के ऊपर आज फफोला।

कैसा सहसा सब ओर अँधेरा छाया,
रवि शशि को जैसे राहु-केतु ने खाया।

जिसने बापू से जीवन आभा छीनी,
की उस नर पशु ने कितनी बात कमीनी।

स्वयं को गाली देकर, अपराध से बच निकलने की निष्फल चेष्टा भी तो एक कला ही है !

लेकिन मशाल है अभी नहीं बुझ पाई,
भारत माता ! क्यों हो इतनी घबराई ?
की है उसने केवल कर की बदलाई !

विंध गए गोलियों से गाँधी जी महाराज,
अपराधी नाथूराम गोडसे प्रगट आज।

हमने कटवा दी देश–गाय हँसते हँसते,
इससे ज्यादा हम और नहीं थे कर सकते,
यदि तुरुक आज भी पाकिस्तानी रुख तकते।

यह ठीक कि गाँवों–नगरों का संहार हुआ,
यह ठीक कि लाखों पर अति अत्याचार हुआ।

अच्छा ही है मौजूद नहीं बा कस्तूरा,
यदि लगता उनको इस दुर्घटना का छूरा
उनका अभ्यंतर तो होता चूरा-चूरा।

यह कहना जरा कठिन बात है कि कस्तूरा बा को बूढ़े गाँधी बाबा कि मृत्यु से अधिक दुख होता या उनकी मृत्यु के बाद उन पर लिखी हुई इस तरह की रचनाओं को पढ़कर! इसलिये अच्छा ही है कि वे अब तक के लिये मौजूद नहीं रहीं!

चल दिये पिता, पर छोड़ गये हैं काम बड़ा
तुम बड़े बाप के बेटे हो, लो नाम बड़ा,
संसार तुम्हारी ओर देखता खड़ा–खड़ा।

बड़े बाप के एक बेटे बच्चन ने तो ऐसा काम करके दिखा ही दिया, जिसके लिये संसार खड़ा-खड़ा प्रत्याशा लगाये हुए था!

प्रतीक राम नाम का,
जो देश के पिता थे उनके
था बड़े ही काम का!

इस तरह की कविता को लिखने की बात तो दूर पढ़ते हुए भी लज्जा आती है। यह निर्णय करके, इसका पूरा अनुमान लगाना तो बहुत

ही मुश्किल है, कि अपने देश के पिता गांधी जी के लिये राम का नाम कितना, और किस सीमा तक काम आ सका, लेकिन इसकी गणना का हिसाब तो एक पल भर ही में लगाया जा सकता है कि पिता के बेटों के लिये अपने पिता का नाम, और उनके नाम की दुहाई बहुत ही ज्यादा काम आई। किसी पहुँचे हुए ऋषि के वरदान की तरह गांधी जी का नाम उनके बेटों के लिये अत्यंत लाभ प्रद रहा!

बापू जी अपनी चिता सेज पर लेटे,
हो, रामदास, माना तुम उनके बेटे।

अब बिखर गई बापू की हड्डी-हड्डी
अब होने को है महा चिता यह ठंडी!

घटना महान है बापूजी का मरना,
है घाव बड़ा ही भारी हमको भरना।

घाव चाहे भरे या न भरे, अपनी बला से, जिसे घाव होगा, वह मन मार कर उसकी पीड़ा, अपने आप सहेगा, इसलिये उनका घाव दस दिन बाद भरे या दस साल बाद, बच्चन को इससे क्या उनके तो कोट, पतलून और कमीज की सारी जेबें भर ही गईं, कोई रेत या मिट्टी से नहीं—रुपयों से! फिर उनके लिये बापू के मरने की घटना सामान्य कैसे होगी?

जमुना तट से संबद्ध सदा था वंशी-वट,
वंशी वट से संबद्ध सदा था वंशी नट।

जिनको अपनी रक्षा के हित लघु तिनका भी
रखना था अपने पास गवारा नहीं कभी,

रावण था राम विरोधी बन कर आया,
कंस ने कृष्ण जी से था बैर बढ़ाया।

बह गई राख नद-नदियों में गांधी की,
गति उसी भांति है नाथू की छाती की।

कर गये सत्रों की होली वे फीकी-फीकी।

बापू की हत्या के चालीस दिन वाद गया,
मैं दिल्ली को, देखने गया उस थल को भी !

गाँधीजी की हत्या के चालीस दिन वाद
मैं हूँ कनाट सर्कस दिल्ली मे खड़ा हुआ,
जो देख रहा हूँ अपने चारों ओर यहाँ,
उससे मन ही मन लज्जा सें हूँ गड़ा हुआ।

सिनेना समाप्ति पर देश-ध्वजा दिखलाते हैं,
जिसके नीचे भारत के नेता आते हैं।
सवके आखिर में आते हैं—प्यारे वापू
दोनों हाथों से कर प्रणाम लेते आसन !

जव कि मैंने वच्चन की इन पिछली सभी पंक्तियों को अपने हाथ से लिखा है, तो उसके हिमायती पाठक ज्यादा नहीं तो कम से कम एक वार तो इन सवको पढ़ ही डालें—विना किसी अधिक विश्राम के; केवल इतनी सी मामूली शर्त्त के आधार ही पर अपने हाथों किये गये इतने अधिक अकारथ परिश्रम को अपना सौभाग्य ही समझूंगा—दुर्भाग्य नहीं ।

इन पंक्तियों के वीच वीच में और भी वहुत कुछ कहने को था, वहुत कुछ लिखने को था, पर उसकी आवश्यकता मैंने इसी लिये नहीं समझी कि वे पंक्तियाँ खुद ही वहुत कुछ वतला देती हैं—दूसरों को टीका करने का वे अवसर ही नहीं देतीं । ये अपने आप ही में इतनी निम्न कोटि की हैं कि उन पर आलोचना का हलका सा प्रहार करते हुए भी लज्जा आती है !

आत्म घात किये हुए व्यक्ति की लाश को लेकर उसकी क्या भर्त्सना की जाय ? उसकी लांछना करने से क्या मतलव ? कोई क्रोध में उस निर्जीव लाश को ठोकर भी लगाये तो यह उसकी क्रूरता ही है !

यह एक वड़े आश्चर्य की वात है कि नाथू राम ने गांधी जी की देह पर प्रहार करके उन्हें मारा, तो उसके अपराध स्वरूप उसे सजा मिली—फांसी !

पर जब बच्चन ने गाँधी जी के साथ गाँधी-वाद और उनके सिद्धान्तों तक का खून किया, तो उसके पारितोषिक स्वरूप उसे बहुत अच्छी खासी अर्थ प्राप्ति हुई, और आज दिन तक भी, 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' के बीच छिपे हुए गाँधी जी की मृत देह के दो टुकड़े अलग अलग रूप से खुले आम सरे बाजार में चार चार और पाँच पाँच रुपयों में बिक रहे हैं—जिसके लाभ का कुछ हिस्सा बच्चन को भी मिलता है !

हम धन्यवाद विज्ञानकाल को देते हैं—
जिसके कारण उनके दर्शन कर लेते हैं।

चल चित्रों में अक्सर बापू के दर्शन कर लेने के कारण जब बच्चन विज्ञान काल को धन्यवाद देते हैं तो परंपरा से चलती आई इस रीति को निभाना मेरे लिये भी अनिवार्य हो जाता है कि मैं उनको भी धन्यवाद दूं—और साथ में विज्ञान कला की एक छोटी सी देन मुद्रणालय को भी, कि जिसके फलस्वरूप उनकी ये दोनों हस्तलिपियां छपे छपाये सुन्दर अक्षरों के साथ हमारे हाथ लगीं।

मैं तो अपनी इस कमज़ोरी को स्वीकार करता हूँ कि मुझे तो इन दो सौ चार कविताओं का कुछ मतलब ही समझ में नहीं आया, कि बापू के बारे में आखिर कवि क्या कहना चाहता है? यदि अफ्रीका के आन्दोलन से लेकर तीस जनवरी तक के जीवन का पूरा वर्णन ही होता—या बिड़ला मंदिर से राजघाट तक की यात्रा का वर्णन, 'निशा निमंत्रण' के गीतों की तरह होता—तब तो निश्चय ही बच्चन की उस विवशता का दोनों हाथ बढ़ाकर सम्मान भी किया जाता!

काच की बोतल के भीतर छलछलाते हुए शराब से गाँधी जी का खून कहीं ज्यादा गाढ़ा और अधिक लाल था, पर उसकी ललाई पर बच्चन से एक पंक्ति भी ठीक नहीं लिखी गई—और जहाँ उसने शराब की उस ललाई पर सैकड़ों गीत लिख मारे—जो इन खादी के फूलों और सूत की मालाओं से लाख गुना अच्छे हैं। गाँधी जी की छाती पर लगी हुई, पिस्तोल के उन तीन धड़ाकों की आवाज़, मधुबाला के पायलों की रुनझुन क्वणन ध्वनि से कहीं ज्यादा तेज़ और अधिक प्रेरणा देने वाली थी, पर जिस सफलता के साथ उसने मधुबाला की रुनझुन का वर्णन किया है, उसका एक हजारवाँ हिस्सा भी, उस पिस्तोल की आवाज के वर्णन करने में वह नहीं भर सका!

तीन धड़ाके हुए हाय,
बापू हो गए धराशायी।

इस तरह की पंक्तियों को लिखने में, वच्चन को तो लज्जा नहीं आई--क्योंकि उस समय लज्जा या झिझक करने से उन्हें बहुत कुछ आर्थिक हानि होने की संभावना जो थी ! वह लज्जा उन्हें बहुत ज्यादा मँहगी पड़ती ! पर हमें तो इन पंक्तियों को पढ़ते हुए भी लज्जा आती है, यह सोचकर कि अब इन रचनाओं पर केवल वच्चन ही का अधिकार नहीं, अब ये हिन्दी साहित्य की पूंजी बन जाती हैं, इस आशंका से लज्जित होना ही तो स्वाभाविक है। इन रचनाओं का रचयिता होने के नाते, वच्चन को तो अच्छी खासी रकम प्राप्त हो गई, इसलिये उसको सहने की वह ढिठाई भी कर सकता है, पर हिन्दी साहित्य आखिर किस प्रलोभन के आधार पर व्यर्थ की वदनामी का भार ढोये !

और यदि वापू की मृत्यु के वाद इस तरह ही की रचनाएँ ही उन पर लिखी जा सकती हैं- तो उनकी मृत्यु अकारथ ही सिद्ध हुई। नाथूराम के हाथों, मारे जाने पर भी यदि उनको वाद में किताबों के भीतर जीवित रखा जाता, तो उनका मरना पूर्ण सार्थक हो जाता। गाँधी जी की वह मृत्यु तो भुलाई जा सकती है- और लोग भूल भी गये, पर इन पुस्तकों के रूप में उनके जो अंग प्रत्यंग सड़ रहे हैं, उनको कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। संभव है, राज घाट की समाधि को देख कर मरे हुए वापू को याद करके आंखों में आँसू तक आ जायें, तब भारत वर्ष के हर पुस्कालय की अलमारियों में काच के चमकते पर्दों के भीतर, इस तरह की पुस्तकों के रूप में, गांधी के ये अगणित राज घाट क्या एक दीर्घ वेदना भरी उच्छ्वास को भी वाहर न खींच ला सकेंगे ?

अपने ही हाथ से गाँधी जी के व्यक्तित्व को कलंकित करके वच्चन अपनी कविता में एक जगह यह प्रश्न करते हैं कि:—

कर गया उनको अचानक कौन औ'
किस वास्ते वर्बाद !

समझ नहीं पड़ता कि वच्चन यह प्रश्न किससे पूछ रहे हैं—और इसके उत्तर की प्रत्याशा वे किससे रखते हैं ? यह तो हमने भी सुना है कि नाथूराम ने उनको जान से अवश्य मारा था, पर उसने उनको वर्बाद नहीं भी किया। उनको वर्बाद करने वाले कई व्यक्तियों में, एक हाथ, एक दिमाग़ और एक जवान वच्चन की भी है, क्या उनको इस वात की भी जानकारी नहीं ! तो वच्चन को अव जान लेना चाहिये कि गाँधी को कुछ वर्बाद उसने भी किया है। रहा प्रश्न 'किस वास्ते' का, सो वे यह हमसे कहीं ज्यादा जानते हैं। हम यदि कहना भी चाहें तो केवल इतना भर तो कह ही सकते हैं कि उन्होंने रुपयों के वास्ते उनको वर्बाद किया ! पर कितने रुपयों के वास्ते, उसकी जानकारी तो केवल दो ही व्यक्तियों को हो सकती है—उनको और उनके प्रकाशक को ! फिर व्यर्थ में और किसी से, यह प्रश्न करने का उन्हें क्या अधिकार ? उससे वे निर्दोष तो किसी भी प्रकार प्रमाणित न हो सकेंगे !

कुछ अर्थ छिपा था उनके गोली खाने में,
क्या क्रोध करें हम, नाथूराम क़मीने पर !

पहिली पंक्ति में, वापू के मरने को, किसी छिपे हुए अर्थ का संकेत वतलाना, इसी वात को प्रमाणित करता है, कि नाथूराम तो केवल एक निमित्त मात्र था ! उस छिपे अर्थ को, आखिर किसी न किसी हाथ से पूरा होना ही था; संयोगवश वह काम नाथूराम के ही हाथ से हो गया, तो कोई वात नहीं ! इसलिये वच्चन का यह तर्क उन्हें विवेक देता है कि फिर नाथूराम पर क्रोध करने से क्या मतलव ?

पर क़मीना' शब्द संयम का नहीं, क्रोध ही का प्रतीक है ! नाथूराम को निमित्त मात्र मानकर भी उसे 'क़मीना' कहने का यही मतलव होता

है कि सारा का सारा दोष उसी ही का है! 'क़मीने' शब्द से बड़ी गाली तो प्रकाशित रूप में साहित्य के क्षेत्र में दी नहीं जा सकती, पर फिर भी वच्चन अपने मन को समझा रहे हैं कि उस पर क्या क्रोध किया जाय? इस तरह की पारस्परिक विरोधी बातें दोनों किताबों में कई स्थलों पर आसानी से मिल जाती हैं!

मान लिया जाय कि नाथूराम ने अपराध भी किया, पर उसे 'कमीना' कह कर गाली देने का अधिकार कम से कम वच्चन को तो नहीं भी है। वच्चन के अन्यथा सभी को, उसकी भर्त्सना करने का अधिकार है, पर उससे वच्चन को भी यह अधिकार नहीं मिल जाता! यदि वे अपने हाथों से 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' की सर्जना नहीं कर जाते, तो उन्हें भी वह अधिकार था। पर इन किताबों के बाद तो नाथूराम के साथियों को भी यह अधिकार मिल जाता है, कि वे अपनी ओर से, वच्चन को 'कमीना' क़ह कर उसकी प्रताड़ना कर सकें! वच्चन का क़मीना पन नाथूराम से भी कहीं सहस्त्र गुना अधिक है।

जो गोली खाकर गिरी, मरी, वह थी छाया,
है अजर-अमर उसके आदर्शों की काया –
थे हाड़ माँस के व्यक्ति नहीं बाबा गाँधी!

बापू की जिस देह पर नाथूराम के हाथों पिस्तोल के तीन घाव लगे, उस देह को केवल छाया बतला कर एक ओर तो जहाँ वच्चन ने उनके आदर्शों को अजर-अमर बतलाया है, इसके द्वारा जहाँ यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि नाथूराम ने उनके आदर्शों की हत्या नहीं की—और न वह कर ही सकता था, उसने तो केवल गाँधी जी की छाया पर ही प्रहार किया; पर दूसरी ओर उसी नाथूराम विनायक गोडसे को बापू का हत्यारा कह कर, उसे बीसियों कविताओं में पच्चीसों बार कोसा है– और साथ ही इस तरह के दार्शनिक भावों का भी निसंकोच खुला प्रदर्शन किया है कि जो कुछ भी कांड हुआ, वह हरि की इच्छा से ही हुआ—क्योंकि गांधी जी का विश्वास था कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता; इसलिये नाथूराम ने तो केवल प्रभु की इच्छा का पालन भर ही किया था, और उसी आदेश पालन में किनारे को

फाँसी भी मिली ! बच्चन की अदालत में शायद यह अन्याय ही हुआ !

साईं जिसको जितने दिन रखता है—रहता,
उसने जब चाहा उसको अपनी शरण लिया ।

नाथू तो केवल हरि की इच्छा का अनुचर मात्र है । उसकी गोलियों के प्रहार से गाँधी जी ने तो केवल फटे हुए वस्त्र का परित्याग भर ही किया था—

तुमने क्षण में तन-जीर्ण-वसन को दूर किया—
की मुक्त वरण, ठुकरा कर मिट्टी की काया !

और इन पंक्तियों के बिलकुल पास वाली कविता ही में बच्चन ने जी भर कर नाथूराम को कोसा हैः—

थी बुद्धि कहाँ उस जड़ मिट्टी के घोंघा की !

एक जगह और भी —

यह सच है कि नाथू ने बापू जी को मारा—
क्या इतने ही से जीत गया है हत्यारा ?

इस तरह की पंक्तियों में कई बार, नाथूराम के सिर पर गाँधी जी की हत्या का अपराध लगाया गया है—सो एक तरह से सही भी है; पर इसके बाद फिर 'माया' 'छाया' 'प्रभु का अनुचर' इत्यादि दार्शनिक भावों को दर्शाने के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता ! स्थान भले ही न रहे, इस तरह की विरोधी बातों को बार बार दोहरा कर, बच्चन ने तो अपनी कविताओं की संख्या बढ़ा ही ली है ! इतनी अधिक बढ़ाई कि एक की जगह दो किताबें छपवानी पड़ीं ।

आत्मा बापू की माफ करे नर घातक को
शामिल जिसमें सब जाति हुई उस पातक को,
इतिहास कभी यह पाप नहीं बिसराएगा—
इतिहास करेगा क्षमा कभी यह पाप नहीं ;

कोई मुझे यह समझाये कि प्रभु का आदेश पालन करने वाले अनुचर के सिर पर कौन सा पाप है—और किस पाप को इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा ?

यह तनिक से निर्णय करने की वात है कि इतिहास वच्चन के पाप को क्षमा नहीं करेगा, या नाथूराम 'अनुचर' के पाप को !

वापू को खो हमने उनकी कीमत जानी,
अपनी लघुता, उनकी महानता पहिचानी,
मत समझो, इसको कोई छोटा काम हुआ,
इस विपदा से हम निकलेंगे वन कर साथी,
हे नाथूराम, तुम्हारे भी हम ऋणी हुए।

अपनी विपत्ति, या आपदा को, महाज्ञान प्राप्त करके, इन दोनों कितावों के लिखने की पश्चात्, वच्चन तो वड़ी आसानी से टलकर, वच निकले—इसमें कोई संदेह नहीं। पर जिस मतलव से उन्होंने नाथूराम को भी अपना ऋणी समझा, उस विवेक के अनुसार हम वच्चन को अपना ऋणी समझने पर तैयार नहीं हैं— यह उनको अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये।

एक ओर तो वच्चन ने, नाथूराम के इस कृत्य के प्रति अपना आभार और ऋण प्रदर्शित किया है—और दूसरी ओर इस पाप को अक्षम्य वतलाने की नादानी भी उन्होंने अपने ही विवेक से की है; उनकी यह भूल किसी दूसरे व्यक्ति के ज्ञान पर आधारित नहीं है !

नाथू ने वेधा वापूजी का वक्षस्थल,
हो गई करोड़ों की छाती इससे घायल—
यदि कोटि वार वह जी जी करके मर सकता,
तो कोटि मृत्यु का दंड भोगता वह राक्षस !

एक दूसरी कविता में—

गोडसे वंश में जनमा था विरवर,

जहाँ तक मुझे अपनी स्मरण शक्ति पर विश्वास है कि वच्चन ने इसी नाथूराम विनायक गोडसे को हरि की इच्छा का अनुचर ही वतलाया था, 'निशाचर-नहीं' तव इन पंक्तियों में उसे विपधर और राक्षस कह कर उसकी लांछना करना कहाँ तक संगत है ? यदि राक्षस और विपधर के रूप में उसे गालियाँ ही देनी थीं तो फिर उन दार्शनिक गूढ़ तत्वों के समावेश का ढोंग रचने की क्या आवश्यकता थी ?

वच्चन का कोई ना समझ हिमायती, यह समझने की भ्रान्ति न कर वैठे कि मैं नाथूराम का पक्ष ले रहा हूँ—या मैं कोई रा० से० सं० का कार्यकर्त्ता हूँ । विश्व के सभी मनुष्य मात्रों को मैं सम्मान और प्यार की दृष्टि से देखता हूँ पर जव कोई मनुष्य राष्ट्रीय सेवक संघ के रूप में अपना यह परिचय लेकर मेरी आँखों के सामने आता है, तो मुझे अपनी विवेक शक्ति के परे भी उससे घिन हो जाती है । कारण स्पष्ट है कि उसके मनुष्य होने में ही मेरे विवेक को तनिक शंका—या संदेह उत्पन्न हो जाता है ।

मुझे तो केवल वच्चन की इन विरोधी उलझनों के प्रति शिकायत है कि उसे इस तरह आत्मवंचना करने की क्या विवशता आ पड़ी । एक तरफ तो वापू के इस हत्याकाण्ड को साईं की इच्छा का 'खेल' वतलाना और उसी 'खेल' का मुशकिल से सामना करना—यह कौन सी और किस देश की लज्जा है ?

जब किसी तरह इस कड़वे सच को लीला मन !

'लीला' मेरे एक आत्मीय मित्र की प्रेयसी का नाम होने पर भी मैं कम से कम इस शब्द को, इस पंक्ति के स्थान पर मान्यता नहीं दे सकता । बच्चन की लेखनी से इस 'लीला' शब्द का यह प्रयोग, इतना अधिक कड़वा हो गया कि उसको आँखों की राह, पढ़ कर निगलने में भी बड़ी कठिनाई होती है !

अंत में स्वयं बच्चन साहब लिखित रूप में स्वीकार करते हैं :—

लेकिन हमको कुछ ऐसा करना है जिससे,
बलिदान हमारे बापू जी का व्यर्थ न हो ।

'हमको' किसको, तुमने तो 'कुछ ऐसा' कर ही लिया है कि जिससे बापू का बलिदान तुम्हारे लिये व्यर्थ नहीं हुआ !

बापू का बलिदान नहीं होता तो फिर इन खादी के फूलों और सूत की मालाओं का निर्माण क्यों कर हो पाता ? कम से कम बच्चन के लिये तो बापू का बलिदान व्यर्थ नहीं गया, वह सार्थक हो ही गया । दो किताबों की रचना हुई तो अलग, और उन रचनाओं से जो अच्छी खासी कमाई हो गई, वह क्या कम महत्व की बात है ?

इसलिये बच्चन को यदि यह उपदेश देना ही था तो इस प्रकार देते :—

लेकिन 'तुमको भी' कुछ ऐसा करना है जिससे
बलिदान 'तुम्हारे' बापू जी का भी व्यर्थ नहो ।

एक दूसरी कविता में वे इसी बात को इस प्रकार दोहराते हैं :—

अपने कवित्व या जोड़ जोड़ अक्षर धरने,
की क्षमता का भी आज ऋणी हूँ भारी,

मेरे दुख-सुख में काम सदा वह आई है,
पर कभी नहीं इतनी जितनी इस अवसर पर !

इस कविता के आरंभ में कवि ने उन सभी कवियों और लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन की परिपाटी का निवाह किया है–जिन्होंने कि बापू के निधन पर अपनी लेखनी उठाई–और उन पर रचनाएँ की हैं; फिर उन्होंने स्वयं अपनी ही कवित्व शक्ति के प्रति कृतज्ञता और ऋण का भार प्रदर्शित किया है, क्योंकि वह दुख-सुख के समय पर हमेशा इनके काम आई है, पर इतनी नहीं, जितनी इस बापू हत्या कांड के पुण्य अवसर पर !

दोनों किताबों को पढ़ने के बाद इन पंक्तियों का यह मतलब समझना पूर्ण तया संगत और उचित ही है कि इस अवसर पर कविता के सहारे उन्हें सबसे अधिक अर्थप्राप्ति हुई। यों अलग अलग से भी इन किताबों का मूल्य बच्चन की पिछली प्रत्येक कृति से अधिक है। पिछली दो तीन किताबों पर पाठकों की वाह-वाही और प्रशंसा भले ही अधिक मिली हो–पर प्रकाशक ने तो इन्हीं किताबों पर शायद सबसे जल्दी और सबसे अधिक दाम दिये होंगे। पाठकों की वाह-वाही से पेट भरने की बात तो दूर, सर्दियों से बचने के के लिये एक मामूली से गुलीबंद को भी नहीं खरीदा जा सकता। इसी कारण कविता की दृष्टि से ये किताबें सर्वथा निकृष्ट कोटि की होने पर भी अर्थ लाभ की दृष्टि से सबसे अधिक लाभ प्रद हैं–और बच्चन ने कृतज्ञता प्रगट करते हुए अपनी कवित्व शक्ति के प्रति जिस ऋण का बोझ दर्शाया है-वह अनुचित तो किसी भी प्रकार से नहीं है–क्योंकि वह इस अवसर पर उसके बहुत अधिक लाभ की सिद्ध हुई ! और मैंने ऊपर वाले शब्दों में अपनी ओर से कुछ भी नहीं, केवल बच्चन ही की इस बात का हार्दिक समर्थन किया है—

अपने कवित्व या जोड़ जोड़ अक्षर धरने
की क्षमता का भी आज ऋणी हूँ मैं भारी-
मेरे दुख-सुख में काम सदा वह आई है
पर कभी नहीं इतनी जितनी इस अवसर पर !

हाँ एक बात और कि अपनी कलाहीनता, शायद अब स्वयं बच्चन की भी आँखों से छिपी नहीं है–वे स्वयं अब इस बात को जान गये हैं कि इनकी

कविताओं का पानी कितना गहरा है ? तभी जाने या अनजाने उनको यह साहस नहीं हुआ कि इन दोनों पुस्तकों की रचनाओं को कविता कहकर संवोधन कर सकें ? और इसी कारण 'अक्षर जोड़ जोड़ कर धरने' की इस क्रिया को कवित्व शक्ति का विशेषण देने में उन्हें संकोच हुआ ! यह तो कोई ईमानदारी की वात ही हुई । यदि इसके लिये बच्चन को मैं अपनी ओर से धन्यवाद भी दूं तो वह असंगत नहीं होगा-गुण का आदर तो करना ही चाहिये । दोनों किताबों में मुझे एक यही सबसे अधिक वात पसंद आई कि स्वयं बच्चन ने स्याही की लिखावट में यह स्वीकार कर लिया कि उनकी कवित्व शक्ति, कम से कम इन किताबों में तो, जोड़ जोड़ कर अक्षर धरने के अन्यथा और कुछ भी नहीं है !

अब तक के जितने भी उदाहरण दिये गये थे वे टुकड़ों ही के रूप में थे, वच्चन की संपूर्ण कविता के मधुर रसास्वादन से आप भी कहीं वंचित न रह जायँ, इसलिये एक कविता को अपने पूर्ण रूप में उद्धृत कर देना मैं अनिवार्य समझता हूँ–

वापू की हत्या के चालिस दिन वाद गया
मैं दिल्ली को, देखने गया उस थल को भी,
जिस पर वापूजी गोली खाकर सोख गये,
जो रंग उठा उनके लोहू की लाली से।
विरला-घर के वाएँ को है वह लॉन हरा
प्रार्थना सभा जिस पर वापू की होती थी
थी एक ओर छोटी सी वेदिका वनी,
जिस पर थे गहरे लाल रंग के फूल चढ़े!
इस हरे लॉन के वीच देख उन फूलों को,
ऐसा लगता था जैसे वापू का लोहू,
अब भी पृथ्वी के ऊपर सूख नहीं पाया,
अब भी मिट्टी के ऊपर ताज़ा ताज़ा है।
सुन पड़े धड़ाके तीन मुझे फिर गोली के,
काँपने लगी पाँवों के नीचे की धरती,
फिर पीड़ा के स्वर में फूट पड़ा 'हेराम' शब्द
चीरता हुआ विद्युत सा नभ के स्तर पर स्तर
कर ध्वनित प्रति ध्वनित दिग् दिगन्त को वार वार,
मेरे अन्तर में पैठ मुझे सालने लगा...!

इन्हीं कविताओं की थाती पर वच्चन ने अपनी कवित्व शक्ति के प्रति आभार प्रगट किया था। इन कविताओं को लिखने के वाद या तो वच्चन

न्हें सर्वथा भूल ही गये, या उन्होंने उन्हें एक वार भी वापिस नहीं पढ़ा—इसी
नये वे एक कविता में इस पंक्ति को लिखने का यह दुस्साहस कर सके !

सौ वार मरें गाँधी—गाँधीपन वना रहे !

गांधी जी तो अव भौतिक देह के रूप में सौ वार छोड़के, चाहने पर भी
रस दुवारा नहीं मर सकते ! पर शायद उनके मरने से, तव तक गाँधी पन
तो किसी भी प्रकार नही मरा था, जव तक उनके नाम पर इस तरह के निम्न
साहित्य की रचना नहीं हुई थी। और जिस समय इन दो कितावों की हस्त
लिपियाँ छपने के लिये प्रेस में गई, तव उसी क्षण से वच्चन के हाथों गांधी
पन भी सर्वथा मर चुका था। अपने ही हाथों उन पुस्तकों के कफ़न में गांधीपन
की लाश को दफना कर, लोगों के सामने अव इस तरह सफाई देने से काम
नहीं चलेगा—'सौ वार मरें गांधी-गाँधी पन वना रहे !'

गाँधी के भौतिक शरीर की हत्या करने वाले हत्यारे को, फाँसी की सजा
देने वाले न्यायालय तो इस देश में एक नहीं सैकड़ों मौजूद हैं- पर गाँधीपन,
के इन हत्यारों को दंडित करने वाले उस समाज का निर्माण, अभी इस देश में
होना वाकी है। आज तो वे इस अपराध के वदले में मन माना लाभ उठा
रहे हैं- और वे इस समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जा रहे हैं !

स्वयं अपराधी होने पर भी आज वच्चन की यहां तक हिम्मत हो गई कि
वह अपने ही अपराध के लिये दूसरों से जवाव देही करने की उस अनधिकार
चेष्टा तक में समर्थ हो सका -

भू माँग रही है इस घटना का समाधान,
कण माँग रहा है इस घटना का समाधान,
नभ माँग रहा है इस घटना का समाधान,
क्षण माँग रहे हैं इस घटना का समाधान,
जन माँग रहे हैं इस घटना का समाधान,
मन माँग रहा है इस घटना का समाधान!

जिस वात का समाधान स्वयं वच्चन ही से मांगा जाना चाहिये था- पर
यहाँ आज वह दूसरों से ही इस समाधान को पाने का इतना उतावलापन

दिखला रहा है ? उलटा चोर कोतवाल को आँखें दिखा कर उससे प्रश्न पर प्रश्न पूछ रहा है कि चोरी का माल कहाँ छिपा हुआ है ? अपने अपने समय का वल है, यह समय का पलड़ा पलटते ही इसी वच्चन से वापिस इस वात का समावान माँगा जायेगा कि उसने ऐसी किताबें क्यों लिखीं ?

जमीन का कण कण, वायु का स्तर स्तर, पानी की प्रत्येक लहर और उस समाज का प्रत्येक नागरिक उससे जवावतलव करना चाहेगा कि वताओ तुमने ये किताबें क्यों लिखीं ? लिख भी डालीं तो कोई वात नहीं- पर उन्हें लिखने के वाद फाड़ी क्यों नहीं—प्रकाशित क्यों कर वाईं ? इन प्रश्नों का सही जवाव नहीं देने पर तव इस तरह के शांति पाठ करने से काम नहीं चलेगा बच्चन साहव—

प्राचीन समय में जव कि हमारे पूर्वज,
दुर्भाग्य- काल के चक्कर में पड़ते थे,
वे अनुष्ठान कर वड़े वड़े यज्ञों का,
इस भाँति शांति का पाठ किया करते थे, ।

द्यो शांति :
अंतरिक्षम्वं शांतिः
पृथिवी शांति :
आपः शांति :
ओपधयः शांतिः
वनस्पतयः शांतिः
विश्वे देवा शांतिः
व्रह्म शांतिः
सर्वग्वं शांतिः
शांतिरेव शांतिः
सा मा शांतिः

यह चिता नहीं, है एक यज्ञ की ज्वाला,
जिस में आहुति- वापू का तन पावन तम,

हो महायज्ञ यह विफल न हे परमेश्वर,
यह शांति पाठ करते हैं मिल कर सब हम-
भगवान शांति:
अल्लाह शांति:
वाह् गुरू शांति:
आजाद हिन्दुस्तान शांति:
पाकिस्तान शांति:
काश्मीर शांति:
फिरके वन्दी शांति:
हिन्दु शांति:
सिक्ख शांति:
मुसलमान शांति.
समस्त मानव जाति शांति:
महात्मा गाँधी शांति:
ओ३म् शांति: शांति: शांति: !

एक बार और यह विश्वास कीजिये कि यह कविता किसी और की नहीं बनाई हुई है, बल्कि सूत की माला के विवश कवि वर श्री हरिवंशराय बच्चन ही के कर कमलों द्वारा इसकी शुभ रचना हुई है। पर अभी इस समय उनके नाम का खोटा सिक्का भी पूरे दामों में चल रहा है; उनके हाथ से फेंके गये बड़े से बड़े पत्थर भी पानी में डूबते नहीं--तिर रहे हैं, तब इससे भी रद्दी कविता को प्रकाशित करके, उससे अर्थ लाभ करने का वह अधिकार तो जैसे इनकी पैतृक संपति ही है।

मुझे तो बार बार इसी एक बात को दुहराते हुए भी शरम आ रही है कि गाँधी जी के जिस महायज्ञ की ओर बच्चन ने संकेत किया है, उसे अपने ही हाथों पूर्ण तया नष्ट करके--वे लोक दिखावे के लिये दत्त चित्त हो कर उसकी चिर सफलता की आकांक्षा से, न जाने किस परमेश्वर को, शांति पाठ का यह महा मंत्र सुना रहे हैं ? बड़े आश्चर्य की बात है !

यदि फटी देश की चादर, घ ते धोबी को,
पर उसे पकड़ पाने में तो तुम गए चूक-
तुम जोर दिखाते हो गदहे के कानों पर।

काव्य को परखने वाले उस सौंदर्य के माप दंड को क्षण भर के लिये अलग भी रख दूं तो भी जिस तरह के समाज की कल्पना मेरे मस्तिष्क में है, जब तक उस सामाजिक व्यवस्था का निर्माण, इस मानवीय धरती पर नहीं उतर आता, तब तक बच्चन की इन ऊपर वाली पंक्तियों के अर्थ को भी चुनौति दे सकने की क्षमता मुझ में नहीं आ पाती! समर्थन न भी करूँ, तो भी मुझे मन मार कर चुप तो रहना ही पड़ेगा! धोबी के अपराध की सज़ा गधे को मिलते देख कर भी मैं उसका विरोध नहीं कर सकता; और कोई आश्चर्य की बात नहीं कि शायद मुझे भी इसी नीति को काम में लाना पड़े।

शायद, क्यों-? यह आलोचना करते समय, मैं स्वयं भी तो अपने हाथों से इसी नीति को व्यवहार में ला रहा हूँ !

इन किताबों को लिख कर अपराध तो किया बच्चन ने, और मैं उसका प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी बिगाड़ न करके, इन किताबों ही से उलझ रहा हूँ !

धोबी तो इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अध्यापन का काम कर रहा है, और मैं यहां जोधपुर में, जसवंत कॉलेज हॉस्टल के रूम नंबर उन्नीस, बद्री के कमरे में, बैठा हुआ इन गधों ही को, जिन में से एक का नाम खादी के फूल, और उसके दूसरे भाई का नाम सूत की माला, है, मार पीट कर रहा हूँ! उन्हीं के कान ऐंठ रहा हूँ।

और न मेरे पास इतना लंबा एक डंडा ही है कि इस जगह से धोबी के सिर पर- या कमर पर कहीं भी सीधा प्रहार कर सकूं ! यदि ऐसा कर सकता तो शायद सबसे उचित और संगत होता भी वही, पर ऐसा नहीं कर सकने के कारण ही आखिर इस छोटी सी लेखनी का सहारा लेना पड़ा !

• इसलिये यदि हाथ जोड़ने- या अनुनय याचना करने से ही कोई मानता हो तो ऐसे पाठकों से मेरा हाथ जोड़ कर निवेदन है कि इस आलोचना को पढ़ने के बाद यदि वे मुझसे सहमत हैं--तो वे केवल अपने तईं चुप रह कर ही शाँत न हों; बल्कि तीन पैसे का एक छोटा सा खर्चा करके मुझे यह शुभ सूचना दें कि वे मेरे साथ हैं- मुझ से सहमत हैं !

*

• मेरे समर्थक और हिमायती पाठक इस विश्वास को अच्छी तरह से गाँठ बांध लें कि इन तीनों किताबों के प्रशंसक- एक नहीं, एक हजार समालोचकों का, एक साथ मुंह बंद करने की क्षमता मुझमें है ! क्योंकि यह एक मानी हुई बात है कि निर्बल का हिमायती हमेशा हारता है ! इन तीनों कवियों की इन तीनों किताबों की सराहना करने वाले किसी भी व्यक्ति का मस्तिष्क मुझसे तो कमजोर होगा ही- जभी तो वह इन कविताओं को अच्छा समझने की भूल कर रहा है ! इसलिये मेरे विपक्ष में, चाहे एक समालोचक हो, चाहे एक लाख, इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता ! वे सभी निर्बलता का समर्थन कर रहे हैं- इसलिये उनकी हार तो अवश्यंभावी है ही !

यह कोई छोटे मुंह बड़ी बात नहीं, छोटे मुंह छोटी बात ही है !

इन तीनों कवियों को लेकर, मुझे जो कुछ भी और जैसी भी आलोचना करनी थी, मैं उसे अब समाप्त कर चुका हूँ; और समाप्त करने के बाद सरसरे तौर पर उसे एक बार पढ़ भी चुका हूँ। कि आपने भी इस पिछली आलोचना को पूर्ण तया पढ़ लिया होगा, इसी विश्वास के साथ मैं आगे भी कुछ और लिखना चाहूँगा; क्योंकि इन कवियों से निपट कर अपने पाठकों से सीधे रूप में कुछ बातें करना मुझे कुछ जरूरी सा मालूम देता है! यों तो वह पिछली, सारी की सारी लिखावट भी केवल पाठकों ही के लिये है। उस समय इन तीनों कवियों को बीच में खड़ा करके, मैंने उनके बारे में जो कुछ भी कहा, वह कोई अपने कानों को सुनाने के लिये नहीं, पाठकों को सुनाने के लिये था; पर अब उनको वहाँ से हटा कर, अपने पाठकों से भी चार छः बातें करने का मुझे प्रलोभन हो आया है—और केवल उन्हीं पाठकों से जो इस पिछली आलोचना को एक बार पढ़ चुके हैं!

जब तक मैं अपनी इस पिछली लिखावट का 'आलोचना' के अन्यथा कोई दूसरा नामकरण नहीं कर सकता, तब तक मेरी अक्षमता उसे आलोचना का नाम देकर ही संबोधित करेगी। परन्तु फिर भी आप उसे हिन्दी में के आलोचना क्षेत्र के परे की एक विभिन्न ही वस्तु समझिये: क्योंकि न तो मैंने, केवल आलोचना ही के लिये आलोचना करना, अपना लक्ष्य बनाया था, और न मैं स्वयं को, रामचंद्र शुक्ल वाली, आलोचकों की पंक्ति ही में, ही खड़ा करना चाहता हूँ! मेरा मतलब रामचंद्र शुक्ल की समानता से नहीं, पर केवल उनकी पंक्ति से ही है। प्रश्न यह नहीं है कि मैं सबसे पीछे खड़ा रहूँ, या कहीं बीच ही में इधर उधर, पर मैं तो उस पंक्ति में खड़ा होना चाहता ही नहीं।

क्योंकि मैंने तो केवल, अपने किसी और ही उद्देश्य के निमित्त इन

आलोचना को, अपना एक सावन मात्र ही वनाया था। इसके अन्यथा यदि मुझे इससे अच्छा सावन प्राप्त हो जाता तो मैं निश्चय रूप से उसी को काम में लाता। मेरी यह विवशता समझिये कि मुझे आलोचना के सिवाय दूसरा साधन कोई खोजे नहीं मिला। पर साथ में इसे भी स्पष्ट रूप से समझ रखिये कि वच्चन वाली विवशता, और मेरी विवशता, शब्द की दृष्टि से एक होने पर भी मतलव की दृष्टि से सर्वथा भिन्न ही है!

सो वड़ी ईमानदारी, दृढ़ता, व गर्व के साथ, मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरा एकमात्र उद्देश्य था, अव भी है और आगे भी यही होगा—इस तरह के लेखकों और कवियों को गाली निकालना। गाली निकाल कर, उससे व्याप्त तृप्ति को केवल अपने तक ही सीमित रखना भी मेरे सामाजिक कर्त्तव्य की नैतिकता ने उचित नहीं समझा। इसलिये पहिले गाली निकालने के वाद, मैंने गाली निकालने के उन कारणों को भी स्पष्ट तया वतलाने की यथा शक्ति कोशिश की है—जिससे कोई यह न समझले कि मैंने गाली देकर कुछ वुरा काम किया। औरः केवल इतना ही नहीं, गाली निकालने के उन कारणों को अच्छी तरह समझाने के वाद, यदि श्रोता भी मेरी गाली का समर्थन करे, और वह स्वयं भी अपने मुँह से उन्हें गाली निकाले, तव कहीं मैं अपने उद्देश्य को सफल मानूँगा।

हाँ, यह भी तो हो सकता है कि मेरे इन सभी कारणों को सुनने के पश्चात् कोई मुझे ही वापिस भर्त्सना के साथ गाली दे डाले। यह मेरे द्वारा समझाये कारणों की कमी पर ही नहीं, पर सुनने वाले के समझने की कमी पर भी वहुत कुछ निर्भर करता है।

कारण वतलाने मात्र ही से, कोई उसे उसी रूप में समझ भी जाय, यह कोई नियम नहीं है, और न 'न समझना' भी इसका कोई सहज परिणाम ही है। कारण वतलाने वाले के साथ साथ, समझने वाले का मानसिक स्तर भी तो वहुत कुछ माने रखता है! यह भी कोई सही नहीं कि हर कोई सही वात किसी के समझ में आ भी जाय।

कल्लू मोची, रमजान धोवी और इस्माइल ताँगे वाले को, मैं लगभग पूरे दो साल भर तक, पूरी पूरी कोशिश करने के वाद भी नहीं समझा सकता कि मंगला, संसार, चंद्रलेखा, निशान, आदि जैमिनी का कोई भी

चित्र न अच्छा बना, न अच्छा बन सकता है और न अच्छा बन सकेगा ! ये चित्र इतने अधिक बुरे हैं कि इन्हें बुरा कहते हुए भी शरम आती है।

पर मुझे जिस बात पर शरम आये, उसी बात पर कल्लू, रमज़ान और इस्माइल को आनन्द भी आ सकता है, और इन चित्रों की बुराई करने वाले से बात करने में शायद उन्हें भी शरम आये। यह भी स्पष्ट है कि जैमिनी के चित्रों की बुराई करने वाला, चाहे किसी भी शहर का कोई व्यक्ति क्यों न हो, वह पूर्ण रूप से सही है—और उसकी तारीफ करने वाले सभी ग़लत; पर सही होने के साथ साथ, बुराई के सभी कारणों को विस्तार पूर्वक समझाने के बाद भी उनके प्रशंसक अपनी दृढ़ता से एक सूत मात्र भी हटना नहीं चाहेंगे।

यदि समझाने मात्र ही से सब समस्याओं का अन्त हो जाता तो आज के इस समाज में साम्यवाद के प्रचार की इतनी अधिक आवश्यकता ही नहीं होती।

इतने प्रचार के बावजूद भी आज हज़ारों, लाखों की संख्या में 'जनता जनार्दन' राजे, महाराजाओं का सम्मान करती है, उनके दर्शन के लिये व्याकुल रहा करती है, उनके नाम पर मर मिटने को तैयार रहती है। उन्हें चाहे कितना ही समझाइये कि वे बुरे हैं, श्रद्धा, सम्मान के नहीं, घृणा के पात्र हैं; कोई आश्चर्य नहीं कि वे समझाने वाले व्यक्ति से ही घृणा न करने लग जायं।

लेकिन फिर भी प्रचार की—अच्छे प्रचार की अपनी महत्ता है ! यों इसी तरह से ही समाज में धीरे-धीरे जागृति आने के बाद परिवर्त्तन भी आ सकेगा।

नहीं-नहीं, इसलिये नहीं कि मोची, धोबी और तांगे वाला होने मात्र ही से, किसी में समझने की वह क्षमता ही नहीं होती, पर इसलिये कि युगों से चलते आये संस्कारों का बल भी कुछ कम नहीं होता। हजारों सालों से पोषित अंध विश्वास और संस्कार को दस बीस दिनों में मिटाना संभव भी नहीं !

समय तो लगेगा ही, पर इसी डर से कार्य में शिथिलता लाना भी न्यायोचित नहीं। एक न एक दिन कार्य को आरम्भ तो होना ही पड़ेगा !

एक सीधा सा उदाहरण और—कि चाहे आज की वर्तमान शिक्षा कितनी ही दोष पूर्ण क्यों न हो, फिर भी उसी के माध्यम से मैंने अपने आप ही, बिना

किसी वाद प्रतिवाद के सहज ही में इस सत्य को ग्रहण कर लिया कि मनुष्य जाति और जन्म से कहीं बहुत ज्यादा ऊपर है। और आज मैं किसी भी व्यक्ति के साथ—चाहे वह भंगी हो, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई—मतलब कि उन सभी जातियों से, जिन्हें हिन्दू अछूत, हेय समझते हैं या जिनसे परहेज करते हैं, उन सबके साथ खाना खाने के लिये तैयार हूँ। यह तो एक इतनी सीधी और सहज बात है कि जिसके निर्णय के लिये, एक सैकिंड की भी आवश्यकता नहीं—इसमें सोचना और समझना ही क्या है?

पर मैं जिस बात को इतनी सीधी समझ रहा हूँ, उसे महीनों भर तक उपदेश देकर भी, अपने गाँव के अशिक्षित व्यक्तियों को समझा नहीं सकता। बल्कि यह समझाने पर वे उलटे मुझे ही बुरा भला कहेंगे—चाहे मेरे विचार कितने ही अधिक तर्क संगत और स्पष्ट क्यों न हो?

इस स्थान पर आपके मन में यह प्रश्न उठना संगत है कि कल्लू मोची और इस्माइल तांगे वाले—बहुत सारे अशिक्षित व्यक्तियों के अन्यथा कॉलेज के कुछ एम. ए, बी. ए. तक पढ़े विद्यार्थी भी जैमिनी के चित्रों की क्यों प्रशंसा करते हैं—और जो वास्तव में अच्छे और सुन्दर चित्र हैं, उनको वे क्यों नहीं समझ पाते? क्या इस तरह के विद्यार्थियों की कमी नहीं है कि जो पूरी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात भी अहिन्दू, या अपनी जाति वाले अन्य किसी भी व्यक्ति के साथ खाने में उन्हें भी झिझक होती है?

इन सब प्रश्नों के उत्तर में, मेरा एक छोटा सा ही जवाब होगा कि मानसिक स्तर के परिवर्तन के लिये, केवल आधुनिक शिक्षा ही एक मात्र साधन नहीं है, पर फिर भी वह सर्वोपरि और सबसे प्रबल साधन है—इसमें कोई संशय नहीं।

तो मैं कह रहा था कि यह भी संभव है कि इन कवियों को गाली निकालने के कारणों को अच्छी तरह समझाने के बाद भी वापिस मुझे ही कोई गाली निकाल बैठे—बुरा भला कहे; सो तो होगा ही, यह मैं जानता हूँ—अच्छी तरह से जानता हूँ। पर फिर भी अपने को गाली निकालने वाले पाठक के प्रति कुछ भी आक्षेप या रोष प्रगट नहीं करके, उसके द्वारा पूछे गये प्रत्येक प्रश्न का नितांत संयम और विचार के साथ उत्तर दूंगा—जब तक कि वह पूर्णरूप से समझ न जाये। और यदि अन्त तक भी उसे समझा नहीं पा सकूंगा तो

दया भरी मुस्कान के बाद में उसकी ओर से मुँह फिरा लूँगा। उस समय की प्रतीक्षा करूँगा कि जब शायद कुछ वर्षों के बाद उसके मानसिक स्तर में अपने आप ही कुछ परिवर्त्तन आ जाय !

जब कि मैं स्वयं भी अपने खुद के जीवन में इसका अनुभव कर चुका हूँ तो उसे आज लिखावट की भाषा में वापस दोहराने का साहस भी तो होना चाहिये।

निश्चय रूप से याद नहीं कि उस समय, मैं कौन सी कक्षा में पढ़ता था- यही पाँचवी- या ज्यादा भी हुआ तो छठी होगी। मेरे एक मात्र श्रद्धेय कवि श्री मैथिली शरण गुप्त जी ही थे। भूगोल की समस्त दुनिया में नहीं- मेरी अपनी दुनिया में उनसे बढ़ कर कोई भी श्रेष्ठ कवि नहीं था। उनकी पच्चीसों कविताएँ मुझे कंठस्थ थीं- और मुझे उन पर गर्व भी था !

और: आज मैं अपनी उन्हीं आँखों से देखता हूँ- (हालांकि दृष्टि के माप से- वे अब पहिले से कहीं ज्यादा कमजोर हो गई हैं) कि मेरी उस समय की दुनिया का विस्तार कितना छोटा था ? लेकिन उस समय उस से बड़ी दुनिया की कल्पना भी तब मेरे लिये संभव ही नहीं थी ? मेरी इस छोटी सी दुनिया के इने गिने बीस- तीस कवियों में गुप्त जी ही सब से श्रेष्ठ थे !

उनसे श्रेष्ठ कवियों को मेरी दुनिया में घुसने का अधिकार इस लिये नहीं था कि वे उसके योग्य नहीं थे-बल्कि इस लिये कि उनको समझ सकना मेरे ज्ञान और मेरी क्षमता के सर्वथा परे था—मतलब कि मैं उनके लिये योग्य नहीं था !

उन दिनों जसवन्त कॉलेज ही के एक लड़के ने—मेरे सामने मेरे ही श्रद्धेय कवि की कड़ी आलोचना की—उन्हें तुक्कड़ कवि कह कर संबोधन किया—और उसका दुस्साहस कि उसने उनसे भी कई अच्छे कवियों के नाम बताये। पर भला मैं यह सब कुछ मानने को कब तैयार था ? उसने कितना भी समझाया—पर सब निष्फल ! मेरा मानसिक स्तर वह समझने को तैयार ही नहीं था—मैं अपने ही को सही समझ रहा था !

इच्छा हुई थी कि मेरे श्रद्धेय कवि के प्रति अपने ही कानों गाली सुनने के बदले में—उस लड़के का पत्थर से सिर फोड़ दूँ। वह सीधा अस्पताल में जाये—और उसके ललाट पर पाँच सात टाँके आयें—तो वह समझेगा कि गुप्तजी की बुराई करने का क्या परिणाम होता है ?

लेकिन आज अपने आप ही समझ गया हूँ कि उस समय किसका सिर फ़ोड़ने की आवश्यकता थी—मेरा या उसका !

तब यदि मेरे द्वारा, इन कवियों को बुरा भला कहने के कारणों को अच्छी तरह समझाने के बाद भी कोई मुझे अपनी पूर्ण ईमानदारी व सच्चाई के साथ गाली भी निकालेगा—तो मैं उसे स्वाभाविक ही समझूंगा। लेकिन तब भी मेरी अपनी ओर से तो इन कवियों को गाली निकालने का शुभ कार्य तो इसी रूप में जारी रहेगा ही।

जिनमें समझ सकने की वह क्षमता है—केवल समझाने ही से किसी बात को समझ सकने की वह शक्ति है—तो मैं उन्हें पूरे रूप से इस आलोचना के अन्यथा और भी बहुत कुछ समझाऊँगा—उनके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। और साथ ही उसके बदले में केवल इतनी ही प्रत्याशा करूँगा कि यह सब कुछ समझने के बाद वे भी एक बार जोर से इनको गाली निकालें। मेरे इस आन्दोलन में अपना पूर्ण सहयोग दें—तभी वह सफल हो सकेगा।

इसलिये यदि हाथ जोड़ने—या अनुनय याचना करने से ही कोई मानता हो तो ऐसे पाठकों से मेरा हाथ जोड़ कर निवेदन है कि इस आलोचना को पढ़ने के बाद यदि वे मुझसे सहमत हैं—तो वे केवल अपने तईं चुप रह कर ही शांत न हों—बल्कि तीन पैसे का एक छोटा सा ख़र्चा करके मुझे यह शुभ सूचना दें कि वे मेरे साथ हैं—मुझसे सहमत हैं।

मेरे साथ होने या सहमत होने का कोई यह मतलब न ले कि वे मुझसे जोधपुर में आकर मिलें—या उनसे मैं और भी सहायता मांगूंगा। तीन पैसे के पोस्ट कार्ड के अन्यथा मैं अपनी ओर से और कुछ भी सहयोग पाना नहीं चाहता।

बस—मुझे केवल उनकी शुभ सूचनाओं द्वारा इतना भर बल प्राप्त होता रहे कि मेरे पक्ष की संख्या बढ़ रही है—इससे अधिक और कुछ भी नहीं। उनका इतना सा सहयोग ही मुझे अपने कार्य के लिये बहुत ज्यादा बल देगा। अपने विरोधियों की मुझे रंच मात्र भी चिन्ता नहीं है—पर अपने साथियों की बढ़ती संख्या का मुझे बहुत अधिक लोभ है। जैसा कि मैं पहले भी एक दो बार लिख चुका हूँ कि उनकी प्रत्याशा के प्रति उदासीनता रखने की न तो मुझमें वह आत्मवंचना ही है—और न इतना दंभ ही !

विरोधियों का भय इसलिए नहीं कि–मैं तो यह मान कर ही चला हूँ कि उन्हीं चार पाँच व्यक्तियों के अन्यथा (जिनका प्रसंग मैं आरंभ की भूमिका ही में दे चुका हूँ) शेष सभी हिन्दी संसार इनका पक्षपाती है– और वे सब मेरे विरोध में हैं। यदि विरोधी पक्ष का भय होता–तो मैं यह साहस करता ही नहीं।

और: अपने पक्ष की बढ़ती संख्या का प्रलोभन इसलिये कि मैं यह भी जानता हूँ कि हम छ: व्यक्तियों से ही यह आन्दोलन सफल नहीं होगा। इसके सहयोग के लिये अभी बहुत सारे व्यक्तियों की आवश्ययकता है–परन्तु एक न एक दिन तो इसका आरंभ होना ही था, ज्योतिषी के शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा पर अधिक दिन नहीं तोड़े जा सकते।

वर्षों से लगे हुए इस आन्दोलन शब्द के मुलम्मे को देख कर कोई इससे किनारा करने की कोशिश न करे कि मैं यह क्या और कैसा नया आन्दोलन खड़ा करना चाहता हूँ। नया अवश्य है–पर जिससे सुनकर आप भयभीत हों–ऐसा नहीं। लेकिन फिर भी यह आन्दोलन तो है ही।

साहित्य की रूढ़ियों और उसकी गति को बदलने के लिये, किसी आन्दोलन को जैसा होना चाहिये–इसका भी ठीक वही रूप होगा। इसके अन्यथा, किसी के लाख चाहने पर भी वह और कुछ बन ही क्या सकता है ?

तो इस आन्दोलन के सारांश को एक वाक्य में कहना चाहूँ–तो केवल इसी रूप में कहा जा सकता है कि पुरानी पीढ़ी के लेखक जो साहित्यिकता के नाते मर चुके हैं–और जिनकी लाशें अपनी दूषित सड़ांद से इस वातावरण को गंदा कर रही हैं–उन सड़ी हुई लाशों को खींच खींच कर बाहर फेंकने मात्र ही से अभी इस समय हिन्दी का सबसे अधिक हित हो सकता है !

नये और प्रतिभा संपन्न लेखक की किस साहित्य को प्रत्याशा नहीं होती ? पर अभी इस समय हिन्दी साहित्य में एक इस तरह की अखाड़े बाजी और गुटबन्दी हो गई है कि जिससे नये साहित्यिकों के लिये, अपना तनिक सा परिचय देना भी एक सबसे बड़ी समस्या हो गई है। वे लिख सकते हैं–उन्होंने लिखा भी है, और पुरानी पीढ़ी के इन मरे हुए जीवित लेखकों से कहीं सौ गुना ज्यादा अच्छा लिख सकते हैं। पर समस्या, लिखने की नहीं–लेकिन उसे लिखे हुए को प्रकाश में लाने की है। प्रकाशन की व्यवस्था से भी कहीं अधिक, हिन्दी के ये पुराने लेखक ही इसमें अवरोध बन कर बैठे हैं।

क्योंकि वे अपने मरने के आखिरी क्षण तक अपने नाम की मुहर का का ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाना चाहते हैं। पुराने नाम की पूँजी के आधार पर वे हिन्दी साहित्य को निम्न से निम्नतम कोटि की रचनाएँ दे रहे हैं। पिछले नाम की उसी पूँजी पर वे खुले आम काला बाजार करके, मन माना लाभ उठा रहे हैं, पर किसकी हिम्मत जो उनके लिखे पर अँगुली उठाये? और प्रकाशकों की आँखों के सामने से जब तक ये सड़ी हुई लाशें हटा दी नहीं जायेंगी, तक तक किसी नये चेहरे को, ये प्रकाशक उसका प्राप्य सम्मान दे ही कैसे सकते हैं?

सही है कि वे सौभाग्यवश आज भी अपनी पार्थिव देह के साथ जीवित हैं, पर उनके जीवित होने मात्र ही के प्रमाण पर यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि उनकी देह के भीतर बसा हुआ साहित्यिक आज भी जिन्दा है! अपनी लिखावट के प्रारंभिक काल में, कुछ अच्छी रचनाओं के द्वारा उन्होंने अपना नाम कर लिया था, (अच्छा, मान लिया जाय कि यह सही है) पर कुछ ही समय बाद एक, दो या ज्यादा भी हुआ तो तीन, चार कृतियों के पश्चात् ही जब एक दिन सहसा उनका साहित्यिक चल बसा तो उन्होंने ईमानदारी के साथ इस बात को स्वीकार क्यों नहीं किया? उन्होंने अपने लिखने के क्रम को बन्द क्यों नहीं किया? क्या जब तक वे जीवित रहेंगे, तब तक अपने पुराने नाम की मुहर देकर, जो चाहेंगे, जैसा भी चाहेंगे, उसी से हिन्दी साहित्य में भरती भरते रहेंगे?

सिवाय महादेवी वर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी के, सभी प्रसिद्धि प्राप्त जीवित साहित्यिकों के इतिहास को निर्विवाद रूप से इसके प्रमाण में उपस्थित किया जा सकता है। यह एक अनुसंधान का विषय है कि हिन्दी के साहित्यिक इतनी जल्दी मर क्यों जाते हैं? जब कि बर्नार्ड शा जैसे अंग्रेजी लेखकों के भीतर का साहित्यिक उनकी पार्थिव मृत्यु के अंतिम क्षण तक उसी यौवन के साथ जीवित रहता है।

अलग, अलग से प्रत्येक लेखक को, उनको ऐतिहासिक स्थान की उचित महत्ता के साथ सम्मान पूर्वक स्वीकार करते हुए आज मुझे बाध्य होकर यहाँ तक भी कहने में संकोच नहीं होना चाहिये कि ये पुरानी पीढ़ी के सभी लेखक- अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, अमृतराय, अश्क, जैनेन्द्रकुमार यशपाल, पहाड़ी, इलाचंद्र, सियाराम शरण, निराला, बच्चन, पंत, नरेन्द्र

शर्मा, मैथिली शरण गुप्त, गुलाबराय (जिन लेखकों के नाम नहीं गिनाये गये हैं—या तो वे इसके भी योग्य नहीं—या मैंने इनकी जरूरत ही नहीं समझी। महादेवी वर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी के अन्यथा-सारी की सारी पीढ़ी को इस सूची के अंतर्गत ही समझा जाना चाहिये) आदि सभी मर चुके हैं। पर फिर भी ये इस क्षेत्र से तो मानो अशोक की लाट के समान दूर होना ही नहीं चाहते—जब कि इनकी लाशें बहुत बुरी तरह से ज़हर फैला रही हैं। और: जो नयी प्रतिभा या नई पौध कुछ भी कह लीजिये, उसके सामने हिमालय पर्वत से भी बड़े आकार में ये सभी रोड़ा बनकर उसका पथ रोके हुए हैं।

हिन्दी साहित्य का इससे अधिक दुर्भाग्य और उपहास क्या होगा—जब कि एक सज्जन ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने के पक्ष में—केवल यही एक प्रमाण पर्याप्त समझा था कि उसमें निराला जैसे महाकवि मौजूद हैं! परन्तु थोड़ी देर के लिये उस प्रशंसक वाली कसौटी को दूर रखकर, इस सही बात के लिये पाठक को झिझक नहीं होनी चाहिये कि हिन्दी को तब तक राष्ट्रभाषा बनने का कोई अधिकार नहीं, जब तक निराला जैसे कवियों को वह महाकवि का सम्मान देती रहेगी—या जिस साहित्य में अब भी निराला जैसे कवियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है—वह राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी नहीं हो सकती—हजार बार नहीं हो सकती! (पर वह हो चुकी है—इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं—बिना अधिकार के भी बहुत सारे व्यक्ति बहुत सारी चीजें हथिया लेते हैं)

पुनरुक्ति दोष के आरोप की कुछ भी परवाह न करके मैं कुछ बातों को शाब्दिक उलट फेर के बाद वापिस दोहराऊँगा ही कि प्रेमचंद को हिन्दी का उपन्यास सम्राट, निराला और गुप्तजी को हिन्दी के प्रतिनिधि कवि मानने वाले मापदंड, की वह छोटी सी ऊँचाई हो तो, हिन्दी को आगे बढ़ने देने की प्रेरणा से सर्वथा वंचित रखे हुए है। हिन्दी का नया लेखक इस लक्ष्य के परे की कल्पना कर ही कैसे सकता है? यदि यही मापदंड हिन्दी के लेखकों का साध्य रहा तो फिर इस दृष्टि से पूरे युग की दीर्घ अवधि के बाद भी हिन्दी अपनी पूंजी के बल पर शरतचंद्र पैदा नहीं कर सकेगी—जब कि आज बंगला भाषा में कुछ लेखक शरतचंद्र से भी आगे बढ़ते जा रहे हैं!

हिन्दी के सभी समष्टिगत गद्य लेखकों से भी कहीं ज्यादा धन्यकुमार जैन को महत्ता मिलनी चाहिये कि शरतचंद्र को हिन्दी में अनुवादित करके उन्होंने शरत बाबू के जीवित रूप को लाकर उनसे हिन्दी पाठकों का परिचय कराया–जब कि रूपनारायण पांडेय आदि और भी कुछ हिन्दी अनुवादकों के हाथों उन्ही शरतचंद्र की निर्मम हत्या हो चुकी है! यदि ईमानदारी के साथ स्वीकार करें तो, धन्यकुमार जैन द्वारा किये गये, शरत्बाबू की रचनाओं के अनुवाद ही हिन्दी की सबसे बड़ी पूँजी है!

लेकिन यह समझे कौन?

हिन्दी के इन पुराने लेखकों ने–सम्राटों ने, राजे महाराजाओं ने अपनी कृतियों द्वारा अच्छे साहित्य को समझने की वह क्षमता ही अब तक प्रदान नहीं की।

जभी तो आज हिन्दी के अधिकांश पाठकों को कुशवाह कांत की पुस्तकों में सबसे अधिक आकर्षण मिलता है–और उसमें भी लड़कियों को विशेषतया! प्रेमचन्द के प्रशंसक भले ही इस बात को अतिशयोक्ति समझ कर टाल सकते हैं–पर शरत् बाबू के पाठक के नाते जिस व्यक्ति का नाम भी उच्चारण करना (लेखक रूप में) या अपनी लेखनी से लिखना, मैं तो सबसे बड़ी लज्जा समझता हूँ! पर इसे मेरी लाचारी समझिये कि आज उदाहरण के लिये उसी का सहारा लेना पड़ रहा है!

क्या कुशवाह कांत की पुस्तकों के प्रति आकर्षण की बढ़ोतरी हिन्दी के इन सभी वयोवृद्ध लेखकों के लिये एक डूब मरने की बात नहीं है कि आज दिन तक की, उनकी सब कृतियों ने मिलकर भी समष्टिगत रूप से इतना बल प्रदान नहीं किया कि वे इस तरह की कृतियों को घृणा की दृष्टि से देख सकें–या उनकी सहज उपेक्षा कर सकें?

हिन्दी के पाठकों को कुछ ऐसा पढ़ने को मिलता ही नहीं जो, कुशवाहकांत की कृतियों से कहीं अधिक उनको तन्मय रख सके! और आश्चर्य की बात कि पुराने लेखकों में से किसी ने भी इस लेखक की भर्त्सना नहीं की। उन्होंने एक ऐसी संस्था का निर्माण नहीं किया जो इस तरह के लेखकों को उचित सजा द्वारा दंडित किया जा सके! यह आरोप केवल उन्हीं पुराने लेखकों पर इसलिये लगाया जाता है कि वे चाहते तो ऐसा कर सकते थे–पर उन्होंने ऐसा कुछ चाहा ही नहीं– उनको इसकी आवश्यकता ही नहीं जान पड़ी!

यदि विचारों की स्वतंत्रता का यही तात्पर्य है तो इस स्वतंत्रता पर एक वार फिर से विचार करना होगा ! स्वतंत्रता के पहिले विचारों का—या मन की बात का निर्णय करना होगा कि वह व्यक्त करने के योग्य भी है—या नहीं!

तो हिन्दी के इस इतिवृतात्मक रूढ़िगत मापदंड को अब वदलने की आवश्यकता है कि जिसके फलस्वरूप आज दिन तक अयोग्य व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक सम्मान मिल गया और योग्य व्यक्तियों को उनके प्राप्य सम्मान का शतांश भी नहीं मिल सका !

और: तव उस मापदंड का वह परिवर्त्तन ही पाठकों को वह अधिकार दे सकेगा कि जिससे महादेवी वर्मा को, 'अतीत के चले चित्र' और 'स्मृति की रेखाओं' के अन्यथा और भी वहुत कुछ वैसी कृतियों के लिखने के लिये वाध्य किया जा सके—और साथ ही इसके विपरीत निम्न कोटि के लेखकों की जी भर कर वे प्रतारण कर सकें !

इसी कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि हिन्दी के वातावरण को दूषित और विषैला वना देने वाली इन सड़ांद भरती हुई लाशों को विना किसी रुकावट के निर्विलम्ब वाहर फेंक दिया जाय—जिससे हिन्दी का नया लेखक क्षण भर के लिये शुद्ध वायु में श्वांस तो ले सके !

इस आन्दोलन की सफलता का एकमात्र नहीं तो कम से कम एक वहुत वड़ा उपाय यह है कि इन पुराने लेखकों की झूठी विवेक हीन स्तुति के गुण गान को एकदम से वंद करके—उनका तर्क संगत यथार्थ विवेचन किया जाय—उनका खंडन किया जाय ! और इस तरह के दृष्टिकोण से संवंधित जितनी भी रचनाएँ हो, उन्हें सभी पत्र-पत्रिकाओं में भेजने का कष्ट भी किया जाय—अन्यथा उनके गुणगान की स्तुति को वंद करने के वाद—दूसरा पहलू तो वैसा ही सूना रह जायेगा !

सही है कि इन पुराने लेखकों की मोर्चा वंदी अपने प्रति इन विरोधी रचनाओं को किसी भी प्रकार का प्रश्रय न पाने देगी—पर कम से कम एक न एक प्रकाशक या एक न एक संपादक तो इस पूज्य आर्यावर्त के किसी न किसी छिपे कोने में मिल ही जायेगा !

इस वात को मैं भी इन्कार नहीं करना चाहूँगा कि इन्होंने अपने अपने जीवन काल में जो कुछ भी लिखा—वह सवका सव त्याज्य अथवा हेय है ! पर

इस बात का निर्णयात्मक उत्तर तब तक देना उचित नहीं जब तक सबसे पहिले इन रोग ग्रसित सड़ती हुई लाशों को अपने प्राप्य स्थान (श्मसान) पर पहुँचा दिया नहीं जायेगा। समस्या पहिले यह नहीं कि उनके गुणों और इनकी अच्छाइयों का भी खुला विवेचन किया जाय--पर यह है कि उनके द्वारा किये गये दूषित वातावरण को शुद्ध किया जाय फिर उसके पश्चात्--जिस लेखक का जो उचित प्राप्य होगा--वह तो उसे मिलेगा ही! हमारा विरोध उनकी प्रत्येक कृति से नहीं--पर केवल उनकी इन सड़ती हुई लाशों से ही है! यदि इनकी स्वच्छंदता पर अभी से नियंत्रण नहीं रखा जायेगा--तो उनके द्वारा किये गये हित से कहीं ज्यादा अहित की संभावना हो जायेगी!

एक काले विषधर नाग के वर्णनीय गुणों को कौन नहीं जानता? बुद्धिजीवी मनुष्यों से भी कहीं ज्यादा उसको अच्छे खाद्य पदार्थ की विशेष रुचि है; वह चाय- सिगरेट या पान के किये नहीं-पर दूध पीने के लिये छटपटाया करता है! संगीत की मधुर ध्वनि पर साँप से अधिक और कौन मस्त हो सकता है? उसके सिर में अटकी हुई मणि भी मनुष्यों के लिये एक लोभ की वस्तु है!

चंदन के वृक्षों की सौरभ से खिंच कर उनसे लिपट रहना- कोई साँप से सीखे!

लेकिन इन सब गुणों के अतिरिक्त उसके दाँतों के भीतर जो प्राण घातक जहर की एक नन्हीं सी पोटली छिपी हुई है- उसके भय का ध्यान आते ही, अपने प्राण बचाने के लिये उसको कुचल डाल कर मारने की समस्या का समाधान सबसे पहले किया जाता है। यदि उसके सिर में मणि के समान कोई अमूल्य वस्तु है- तो साँप को मारने के बाद, उसे पाने का विचार किया जायेगा; उचित मूल्यांकन के बाद उसी अनुपात में उसकी सराहना भी मुक्त कंठ से की जायेगी।

पूरे सोलह आने नहीं तो कम से कम आठ-दस आने तक तो निश्चय रूप से ठीक यही समस्या अभी हिन्दी के लिये इन पुराने लेखकों को लेकर है! उनके साहित्य में विनिहित सौंदर्य का आनंद- यदि उसमें है- तो वह भी सब कर बाद में ही लिया जाना चाहिये!

मेरे समान, हिन्दी के जो भी पाठक- या नये लेखक, इस आवश्यकता का अपने मन में अनुभव करते हैं तो उन्हें चाहिये कि अभी इस समय- अपनी कोई भी नई रचना के लोभ का निवारण करके, पहिले इसी समस्या के समाधान पर कुछ रचनात्मक काम करें- तो ज्यादा अच्छा और हित कर रहेगा! सो चुप चाप बैठे रहने से अब काम नहीं चलेगा- और उस लिखे हुए को प्रकाशित न करवाना भी एक दूसरे प्रकार सी अकर्मण्यता ही है- और कुछ भी नहीं, इस लिये उन सभी रचनाओं को छपवाने का उतावलापन ही इस आन्दोलन को सफल बना सकेगा, या दूसरें शब्दों में पुरानी पीढ़ी की इन मरी हुई लाशों को- यदि कोई लेखक हिन्दू होगा तो उसे श्मसान और यदि मुसलमान होगा तो उसे कब्रिस्तान में सहज ही पहुँचा दे सकेगा।

तो अंत में एक बार और सावधान कर दूँ कि अभी इस समय हिन्दी के प्रत्येक पाठक और नये लेखक को- केवल इसी मार्ग में अपनी प्रतिभा का उपयोग करना चाहिये। और जिन लोगों ने जाने या अनजाने हिन्दी को अपने एक मात्र बनारस के मायके और इलाहाबाद को अपने एक मात्र सुसराल तक ही बाँधकर सीमित बना दिया है, उस दुलहिन हिन्दी को, अब अपने इस बहुत वर्षों पुराने मायके बनारस—और अपने एक मात्र सुसराल इलाहाबाद से खींच लाकर, उसके विस्तार की सीमा को हिन्दुस्तान के प्रत्येक गाँव—और घर घर तक बढ़ा देना होगा! इन कुछ गिने चुने शोहदों के व्यवसायी हाथों से कुमारी हिन्दी को छीन कर उसे प्रत्येक व्यक्ति की समान अधिकारिणी बना देना होगा। इन दस बीस ठेकेदारों के षड़यंत्र से, जिन्होंने कि हिन्दी को अपनी पैतृक बपौति के समान सहज अधिकृत समझ रखा है, उस षड़यंत्र जाल को अब विच्छिन्न करके, प्रत्येक नागरिक के जन्म सिद्ध अधिकारों के बल पर उसे उनके हाथों में सौंप देना ही होगा!

और: इसी उद्देश्य को अपना एक मात्र लक्ष्य चिन्ह मानकर, मैंने अपनी इस आलोचना को केवल सावन मात्र भर चुना है—इससे कम भले ही हो—पर अधिक तो कुछ भी नहीं!

आलोचक के उस कर्त्तव्य की भी मुझे पूर्ण जानकारी है कि उसका काम केवल पाठकों की आँखों के सामने किसी रचना की अच्छाई को दिखाना भर ही नहीं, पर लेखक को भी अपनी आँखों के सम्मुख अपनी कृति में छिपी अच्छाई का आभास दिखाना है! वह स्वयं विस्मय में रह जाय कि आलोचक

के हाथों से उसे अपनी कृति का यह नया ही स्वरूप मिला है। आलोचक की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह लेखक को भी अपने स्तर से नीचे खींच लाकर अपनी ही रचनाओं का एक उत्सुक जिज्ञासु पाठक बना दे!

लेकिन इस तरह की आलाचनाओं के लिये इस तरह की कृतियाँ भी तो होनी चाहिये!

मैं अपने हाथ से कभी किसी की भी आलोचना करूँगा—तो केवल शरतचंद्र ही की। मेरे जीवन की एक बहुत बड़ी साध है यह! किसे चाह नहीं होती कि उसकी साध पूरी हो?

पर इसे मेरा दुर्भाग्य ही समझिये कि अभी इस समय—अपने हाथों लिखी इस तरह की आलोचनाओं का अपने मन से रंच मात्र भी मेल नहीं होने पर भी मुझे ऐसा करने के लिये बाधित होना पड़ रहा है—यह मैं पहले भी कह चुका हूँ!

और: अपनी इस आलोचना की बुराइयाँ भी मुझसे अधिक कौन जान सकता है? पर यह सब जानकर ही किया गया—कोई अनजाने नहीं!

शेक्सपियर के समान महान नाटककार को भी जब बर्नार्ड शा—बिना किसी कारण के बुरा भला कह सकता है—उसकी दफनाई हुई लाश को बाहर निकाल कर उस पर पत्थर फेंकने की उत्तेजना प्रगट कर सकता है—तो क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं कि मैं हिन्दी के इन तथाकथित बड़े लेखकों को गाली दे सकूँ! गाली के साथ साथ मैंने गाली देने के कारणों को भी यथाशक्ति बतलाने की कोशिश की है—बर्नार्ड शा ने तो वह भी नहीं किया!

With the single exception of Homer there is none, not even Sir Walter Scott, whom I despise so completely as I do William Shakespeare—It will save me a positive relief to dig him out of his grave and throw stones at him.

*

नींब के कड़वेपन ही को सभी बीमारियों की राम बाण औषधि समझने वाले उस वैद्य के समान हिन्दी में कुछ इस प्रकार के समालोचक भी (जो

('मनोविज्ञान शास्त्र' भी पढ़े हुए हैं) हो सकते हैं, जो इस आलोचना को पढ़ कर, बड़ी आसानी से मेरा यह मनोविश्लेषण करके इस बात को बड़े जोर के साथ कहेंगे कि किसी बड़े या महान् व्यक्तित्व वाले पुरुष का खंडन करने में, आत्म प्रदर्शन की जो अज्ञात् तृप्ति मिलती है—मैं उससे बिलकुल अन्यथा नहीं हूँ! वे कहेंगे कि मेरी यह आलोचना अपनी क्षुद्र आत्म विज्ञापन की तृप्ति का एक सस्ता साधन मात्र है—और कुछ भी नहीं!

इसके जवाब में, अपनी ओर से केवल दो ही बातें कहूँगा! पहली बात (कुछ मजाक के तौर पर अतार्किक रूप से) यह कि न तो मैं इनको अपनी दृष्टि से बड़े आदमी ही मानता हूँ—और न मेरे अन्यथा—अन्य व्यक्तियों के वह मत को—जो इन्हें बड़ा समझते हैं—उसमें कुछ भी सत्य का आभास पाता हूँ!

यह तो हुई एक मजाक की बात, जिससे मैं अपने प्रति लगाये गये आरोप को मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकता, इसलिये दूसरी बात यह कहूँगा कि यदि वास्तव में कोई बड़ा आदमी ग़लती पर ग़लती करता जाय तो क्या उस समय इस तरह के मनोवैज्ञानिकों से भयभीत होकर चुप रहना उचित है?

इस तरह के नींव मनोवैज्ञानिकों से वापिस यह प्रश्न नहीं भी करूँगा कि क्या इतनी बड़ी दुनिया में तुम्हारे नियम के अपवाद स्वरूप कोई ऐसी बात कभी भी घटित हो नहीं सकती, जब कि कोई बड़ा आदमी गलती करे और उसके खण्डन की आवश्यकता हो—पर फिर भी वह क्षुद्र आत्म प्रदर्शन का साधन न हो।

यह प्रश्न उनसे इसलिये नहीं करूँगा कि यदि इसका जवाब देने की उनमें क्षमता होती तो वे यह शंका ही नहीं करते—और जिनको यह शंका नहीं है—वे अच्छी तरह से जानते हैं कि इन समालाचकों के तर्क में कहाँ, किस जगह निर्बलता है—जिस पर एक हलका सा प्रहार करते ही वह उसी क्षण टूट जायेगा। Logic में एक fallacy होती है 'Undistributed middle' और इन मनोवैज्ञानिकों के इस मनोविश्लेषण में भी यही fallacy घटित होती है!

यदि इस सत्य के प्रति भी आँखें बन्द कर लेने की उनमें वह अज्ञानता हो तो फिर इसके बाद उनसे और कुछ भी तर्क करने की नादानी अपनी ओर से नहीं करूँगा।

क्योंकि मुझे इस बात पर पूर्ण विश्वास है कि मैं अपने आप का विश्लेषण

होगी, मुझे सबसे घनिष्ठ और यथार्थ रूप में कोई समझता हो---तो वह मैं स्वयं ही हूँ ।

जब मैं ईमानदारी के साथ कह रहा हूँ कि उनका यह मनोविश्लेषण सही नहीं है---यदि वे तब भी अपने 'ज्ञान' पर अड़े रहें---तो रह सकते हैं ! उन्हें इसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है !

उन्हें खुश करने के लिये मैं स्वयं उनके सामने यह स्वीकार कर लेता हूँ कि उनका निर्णय पूर्ण तया सही है । अपने प्रति लगाये गये इस मिथ्यारोप को जान कर ही अपने मुँह से स्वीकार करते हुए, मुझे तनिक सी भी झिझक क्यों होनी चाहिये, जब कि मुझ से यह भी छिपा नहीं कि इस आत्म विज्ञापन की बलवती प्रेरणा से बाधित होकर बहुत सारे मनुष्य चोर और डाकू तक हो जाते हैं---निकृष्ट से निकृष्टतम काम करने को तैयार हो जाते हैं । समाज की कोई भी नैतिकता उस समय उस आत्म विज्ञप्ति के अदृश्य वेगवान प्रवाह को रोक नहीं सकती !

चोरी और डकैती से तो कहीं अधिक मेरा यह कार्य निस्संदेह श्रेयस्कर है; यदि मैंने ऐसा किया भी है- तो वह बुरा नहीं ।

हाँ एक बात और--

मेरे समर्थक और हिमायती पाठक इस विश्वास को अच्छी तरह से गाँठ बाँध लें कि इन तीनों किताबों के प्रशंसक- एक नहीं एक हजार समालोचकों का, एक साथ मुँह बंद करने की क्षमता मुझ में है । क्योंकि यह एक मानी हुई बात है कि निर्बल का हिमायती हमेशा हारता है ! इन तीनों कवियों की की इन तीनों किताबों की सराहना करने वाले किसी भी व्यक्ति का मस्तिष्क मुझसे तो कमजोर होगा ही- जभी तो वह इन कविताओं को अच्छा समझने की भूल कर रहा है ! इसलिये मेरे विपक्ष में, चाहे एक समालोचक हो, चाहे एक लाख--इस में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता ! वे सभी निर्बलता का समर्थन कर रहे हैं, इसलिये उनकी हार तो अवश्यंभावी है ही ।

यह कोई छोटे मुँह बड़ी बात नहीं--छोटे मुँह छोटी बात ही है ! ,

धन्य वाद !